सांस्कृतिक कहानियाँ
भाग ५

सांस्कृतिक कहानियाँ

(भाग ५)

सुदर्शन सिंह 'चक्र'

प्राप्ति-स्थान—
प्रकाशन विभाग
श्रीकृष्ण - जन्मस्थान - सेवासंघ
मथुरा-२८१००१ (उ० प्र०)

प्रकाशक	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
प्रकाशन-तिथि	कार्तिक पूर्णिमा, वि०सं० २०३४ २५ नवम्बर, १९७७
प्रथम संस्करण	५००० प्रतियाँ
मुद्रक	राधा प्रेस, गान्धीनगर, दिल्ली-११००३१

SANSKRITIK KAHANIYAN — Part V

—Sudarshan Singh 'Chakra'

मूल्य— दो रुपया मात्र

अनुक्रमणिका

पूजा

'यह तुम क्या कर रहे हो ?'

'पूजा कर रहा हूँ ।'

'किसकी पूजा ?'

'बाघ देवताकी ।'

'बाघ भी देवता होता है ?'

'क्यों ? क्या भवानी बाघपर बैठतीं नहीं ? मैंने तो अपने बूढ़े बापसे ऐसा ही सुना है ।'

'बैठती तो हैं ।'

'तब फिर ?'

'तुम भवानीकी ही पूजा क्यों नहीं करते ?'

'उनकी पूजा तो पण्डित करते हैं । मैं तो भील हूँ । भवानी तो संसारकी महारानी हैं । मेरा बाप कभी राजधानी जाता था तो बड़ी कठिनाईसे उसे महाराजके घोड़ेके पैर मलनेको मिलते थे ।'

'लेकिन तुम तो बाघ भी पाल सकते हो । बाघकी मूर्ति क्यों पूजते हो ?'

'जङ्गलके जीवको बांधकर रखूँगा तो वह दुखी होगा। उसके लिए रोज-रोज बकरा या हिरन मारना पड़ेगा। भवानीका बाघ कैसा है, मैंने यह देखा तो है नहीं। जङ्गलका कोई बाघ बाँध लेनेसे लाभ भी क्या ?'

'बाघकी इस मूर्तिकी पूजा करनेसे क्या लाभ होगा ?'

'बाघ-बाघ सब देखनेमें एक-जैसे होते हैं। भवानी सुना है कि पर्वतकी पुत्री हैं। बाघपर बैठती हैं तो नगरमें तो घूमती नहीं होंगी। जङ्गल-पहाड़में घूमनेवाली वे देवी कभी इधरसे भूले-भटके निकलेंगी तो उन्हें लगेगा अवश्य कि यहाँ कोई दीन जङ्गली उनके बाघकी मूर्ति पूजता है।'

'वे प्रसन्न हो जायँ तो तुम उनसे क्या माँगोगे ?'

'मैं भला क्या माँगूंगा उन सारे संसारकी महारानीसे, उनका दिया ही तो है मेरा यह देह। इस नीच जातको एक बार दूरसे वे दीख जायँ—मैं उनके चरणोंको दूरसे पृथ्वीमें सिर रखकर प्रणाम कर लूँ, बस !'

'किंतु तुम्हारी यह पूजा कैसी है ? तुम तो बाघपर चढ़े बैठे हो !'

'महाराज ! मैं इसपर बैठा कहाँ हूँ ? वर्षाका पानी पड़ते रहनेसे काई लग गयी है इसपर। इसकी पीठ रगड़-कर साफ कर रहा हूँ। राजाके घोड़ेको भी रगड़कर साईस नहलाता है, यह मैंने देखा है। इसे साफ कर लूँ तो फिर पत्ते, फूल, चिड़ियोंके पङ्ख और गुञ्जासे इसे ऐसा सजा दूँगा कि भवानी देखें तो प्रसन्न हो जायँ !

कहीं वे एक पल इस बाघपर बैठ जायँ तो मैं सब पा गया।'

'भाई ! तुम एक कृपा करोगे मुझपर ?'

'महाराज ! आप मुझे क्यों नरकमें डालते हैं ? मैं नीच भील आप महात्मापर भला कृपा करूँगा ? आप साधु-महात्मा हो। आप कोई आज्ञा करो तो अभी दौड़-कर पूरा करूँगा। आपको कोई कन्द चाहिए ? कोई जड़ी चाहिए ? कोई हिरन या बाघका चमड़ा चाहिए तो आज्ञा करो।'

'यह सब तो मुझे नहीं चाहिए। मुझे लगता है कि देर-सबेर जगन्माता भवानी यहाँ आयेंगी अवश्य। वे यहाँ आये बिना रह नहीं सकतीं।'

'हाँ महाराज ! वे जङ्गलमें ही घूमती हैं तो कभी-न-कभी इधर भी आयेंगी, मुझे यह पक्का भरोसा है।'

'वे आयेंगी और तुम्हारे इस बाघपर बैठेंगी भी।'

'सच महाराज ? आप महात्माओंकी बात झूठी नहीं होती। अब मैं इस बाघको और सजाया करूँगा। रोज-रोज सजाऊँगा।'

'सो तो तुम करोगे, किंतु वे आयें तो उनसे प्रार्थना करना कि वे मुझे भी दर्शन देनेका अनुग्रह करें।'

'महाराज ! वे सारे संसारकी महारानी—उनके सामने मुझसे बोला जायगा ? मैं तो दूरसे छिपकर उनके

चरण देखूंगा। इस नीचके ऊपर उनकी दृष्टि पड़े, इतना साहस मैं कैसे करूँगा ?'

'तुम मनमें ही प्रार्थना कर लेना !'

'हाँ, यह कर लूँगा। वे मनकी बात जान लेती हैं, यह बापू कहता था।'

× × ×

मल्लिकार्जुनका वन कुछ वर्षों पूर्वतक अगम्य था, आज भी उस वनमें शेरोंकी उन्मुक्त क्रीड़ा चलती है। इक्का-दुक्काकी बात छोड़िये, दस-बीस यात्री भी वहाँ नहीं जा सकते थे। वहाँकी यात्रा तो केवल शिवरात्रिपर होती थी, जब सशस्त्र पुलिस पूरे मार्गमें नियुक्त होती थी। यह कथा तो शताब्दियों प्राचीन है। तब तो वह और भी गहन था। बस तो वहाँ अब जाने लगी है, जब कुछ वर्ष पूर्व पक्की सड़क बनी है।

भील सदासे अरण्य-पुत्र है। घोर काननमें उनके झोपड़े आज भी हैं। वनके हिंस्र पशुओंसे उनका पारिवारिक-जैसा सम्बन्ध होता है। वनमें खाली हाथ भील उतना निर्भय होता है, जितना राइफल भरा निपुणतम शिकारी भी नहीं होता।

सूखे पुआलकी ढेरीके समान गुम्बदके आकारवाले परस्पर सटे थोड़े-से झोपड़े होते हैं भील-पल्लीमें। कोई ऊपर हवाईजहाजसे देखे तो लगे कि भेड़ोंका झुण्ड परस्पर सटा बैठा है। मिट्टीकी कच्ची दीवारें, कहीं-कहीं अनगढ़

पत्थर चुनकर वे बनी होती हैं ; किंतु इतनी नीची कि आधीसे अधिक ढालुवाँ फूसके छप्परसे छिपी रहती हैं। पूरे ग्रामको घेरकर एक ऊँची, घनी कँटीली बाड़ अवश्य होगी और उसमें प्रवेशका एक संकीर्ण मार्ग होगा, जो रात्रिमें टट्टरसे बन्द किया जाता होगा। वनमें रहना है तो वनके रात्रिचर क्रूर पशुओंसे अपनी, अपने परिवारकी, अपने पशुओंकी रक्षाकी व्यवस्था तो रखनी चाहिए।

मल्लिकार्जुनके वनमें ऐसी ही एक भील-पल्लीके बाहर मिट्टीके ऊँचे चबूतरेपर पत्थरसे बनी एक बाघकी मूर्ति थी। मूर्ति इतनी बड़ी थी कि एक ऊँचा पूरा बाघ भी उससे तनिक छोटा ही होगा ; किंतु भीलोंके हाथोंने उसे गढ़ा था। आप मूर्तिकलाकी बात करें तो वह वहाँ नहीं चलेगी। अवश्य ही वह मूर्ति चाहे जितनी भद्दी हो, बाघकी ही मूर्ति है—यह देखनेवालेको लग जाता था।

उस दिन एक भील युवक मूर्तिकी पीठपर बैठा उसे रगड़-रगड़कर धो रहा था। उधरसे एक साधु निकले तो उन्हें कुतूहल हुआ।

निकटतम नगर, जो इस वनके समीप है, लगभग पाँच-छः योजन दूर है। ये महात्मा लोग बड़े अटपटे होते हैं। अब देखिये कि ये साधु महाराज सिंह, बाघ, भेड़िये, चीते और उनसे भी भयानक, क्रूर भीलोंसे भरे इस वनमें नगरसे दो योजन दूर आ टिके हैं एक पहाड़ीपर। भील अब इन्हें सिद्ध मानें तो आश्चर्य क्या। सुना यह है कि इनकी उस टेकरीपर बाघ-चीता कोई नहीं जाता।

जङ्गलके कंद, फल, पत्ते छोड़कर वहाँ धरा क्या है। अवश्य ही भील इन्हें मधु, कंद आदि पहुँचा दिया करते हैं।

'यहाँ पूजा ठीक हो जाती है।' साधुओंकी बात वे ही जानें। वैसे कभी इन महात्माजीको किसीने पूजा करते देखा नहीं। ये तो प्रायः वनमें, और वह भी नगरकी दिशासे आनेवाला मार्ग जहाँ ऊँचे पठारपर लुप्त हो गया है, घूमते रहते हैं।

'बाबा ! आप रात्रिमें पूजा करते हो ?' एक बूढ़े भीलने एक दिन पूछा था। दिनमें जो पूजा नहीं करता और अच्छी पूजाकी बात करता है, वह रातमें पूजा करता होगा, यही तो कोई सोचेगा।

'बड़े दयामय हैं भगवान् शिव। वे नाना रूपोंमें पूजा लेने आ जाते हैं।' भीलकी समझमें कुछ नहीं आया। उसे बस, लगा कि रात्रिमें अवश्य शिव भगवान् साधुके समीप आते होंगे।

साधु तो दिनभर भटकते हैं। प्रायः पठारपर भूले-भटके यात्री मिल जाते हैं उन्हें। उनको वे अपनी कुटियापर ले आते हैं। रात्रिमें कोई भूल जाय पठारपर मार्ग—भील भी रात्रिमें तो वहाँ बचे रहनेकी आशा नहीं कर सकता। ये महात्माजी ही आश्रय हैं ऐसे मार्गच्युत पथिकोंके। बड़े स्नेह-सम्मानसे सत्कार करते हैं। यही उनकी पूजा है; किंतु भील इस पूजाको कैसे समझ सकता था।

'महाराज ! आपका आशीर्वाद सफल हुआ ! ढेरसे कंद, फल और पूरा बड़ा छत्ता मधुका लिये भील युवक महात्माकी टेकरीपर उस दिन पहुँचा । उसके पैर ठिकाने नहीं पड़ते थे । वह जैसे उन्मत्त हो रहा था ।

'क्या ? कैसा आशीर्वाद ?' महात्मा किसीको आशीर्वाद देते नहीं । इस युवकको उन्होंने कब आशीर्वाद दिया, उन्हें स्मरण नहीं ।

'माता भवानी आयी थीं कल ! वे मेरे उस बाघपर कूदकर बैठ गयीं । देरतक बैठी रहीं ।' वह जैसे हर्षोन्मादमें कह रहा था । 'वे अपना बाघ, लगता है, घर छोड़ आयी थीं । मेरा बाघ दीखा तो प्रसन्न हो गयीं ।'

'भवानी आयी थीं ? वे आयी कैसे थीं ?'

'वे क्या अकेली आयी थीं ? उनके साथ तो तीन आँखवाले, चन्द्रमा सिरपर पहने, सर्प लपेटे बाबा भी थे । दोनों बैलपर चढ़े आये थे । मेरा बाघ दीखा तो महारानी बैलपरसे कूदकर उसपर बैठ गयीं ।'

'तुम कहाँ थे ?'

'मैं क्या इस नीच देहको लेकर उनके सामने जाता ? मैं तो पेड़के पीछे छिपा देख रहा था । महारानी हँस रही थीं ।' सहसा चौंककर वह बोला—'मैंने मनमें प्रार्थना तो की थी कि वे आपके यहाँ आयें । वे इधर आये भी थे । आप मिले नहीं क्या ?'

'वे उमा-महेश्वर थे ?' साधु अब चौंके। कल सायं एक वृद्ध दम्पति उनको पठारपर मिले थे। उनके साथ एक बूढ़ा बैल था। रात्रिभर वे इस कुटियामें रहे। यह वन और उसमें वृद्ध दम्पति ! इस घोर वनमें बूढ़ा बैल साथमें—क्यों इन बातोंपर ध्यान नहीं गया ?

'अतिथिमात्र उन महेश्वरके रूप हैं, यह मानकर मैं पूजा कर रहा था। वे अतिथि होकर आये ; किंतु···' देर लगी साधुको प्रकृतिस्थ होनेमें। भरे कण्ठसे वे बोले—'तुम्हारा सहज विश्वास कहाँ था मुझमें कि मैं उन श्रद्धा-विश्वासस्वरूपको पहचान पाता ?'

× × ×

मैंने अनेक वन्य ग्रामोंके बाहर व्याघ्रमूर्ति देखी है। ग्रामीण उस मूर्तिकी पूजा करते हैं। नहीं जानता कि व्याघ्रमूर्तिकी पूजा-परम्परा उस भील युवककी श्रद्धासे प्रारम्भ हुई, अथवा इसमें कोई और भी रहस्य है।

—•—

जप

'जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिः कलौ युगे ।'

महात्माने इतना कहा और चुप हो गये। उनका स्वभाव ही बोलनेका नहीं है । धनके कृपण तो बहुत सुने-देखे ; किंतु ये वाणीके कृपण हैं । पता नहीं, इन्हें बोलनेमें क्या जोर लगता है। नीमके नीचे बने कच्चे चबूतरेपर गुमसुम बैठे रहेंगे या लेट जायँगे। पता नहीं, नीमकी पत्तियोंमें इनके नेत्र क्या ढूँढ़ते रहते हैं ।

'शीतल छाया नीमकी' सुना मैंने भी है। नीममें बहुत गुण हैं, यह भी बहुतोंसे सुना है । इतना ही नहीं, बचपनमें मैंने अपने द्वारपर बहुत बार नीमका पेड़ लगाया। उनमें लग गया एक और खूब सघन हुआ। मुझे बहुत प्रिय था वह ; किंतु अब मुझे नीमसे चिढ़ हो गयी है । यह वृक्ष वर्षमें कई महीने कूड़ा किया करता है। पतझड़में पत्ते झड़ेंगे, फिर फूल, सींकें और तब निमौलियाँ । कहीं इससे कभी आसवस्राव होने लगा तो दूरतक कड़वी गन्ध बैठने नहीं देगी ।

इन साधुओंको तो सब सहनेमें कुछ मजा आता है। पत्ते झड़ें ऊपर, वहाँतक तो एक बात है ; किंतु [illegible]

निमौलियाँ कौवे खोपड़ी और शरीरपर गिरा रहे हैं और बाबाजी हैं कि इन्हें उधर ध्यान देनेकी आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। चुपचाप दृष्टि लगाये पत्तोंमें कुछ देखते रहेंगे। कोई आवे, कोई जाय, इनकी बलासे।

लोग आर्त हैं, संसारमें दुःख ही तो अधिक है। जहाँ हरियाली दीखती है, क्षुधातुर पशु उधर ही भागता है। सब शोक-चिन्तासे मुक्त साधुके समीप क्लेशसे निवृत्ति पानेका उपाय नहीं होगा तो कहाँ होगा ? लोग आते हैं, अपना दुःख रोने ही आते हैं। ये महाराज सुनते भी हैं या नहीं, पता नहीं ; किंतु लोग तो अपनी कह ही लेते हैं। घण्टों लोग बैठे रहते हैं कि ये कुछ बोलें। एक दिन, दो दिनमें कहीं एक बार इनका मुख खुलता है। कोई आवश्यक नहीं कि किसीकी ओर देखकर, किसीकी बात-का उत्तर ही दें। कुछ कह देंगे दो-चार शब्द और फिर चुप। गाँवके लोगोंने इनका नाम गुमसुम बाबा ठीक ही रक्खा है।

धूलिसे लिपटा गौर वर्ण, स्थूल काया, बड़े-बड़े तनिक अरुणाई लिये नेत्र, उलझे केश, जिनमें एक-तिहाई श्वेत हैं और जो शेष हैं वे भी काले नहीं, भूरे हो गये हैं। खूब सघन दाढ़ी-मूँछसे मुखका अधिक अंश ढक गया है। कमरमें एक मैली कौपीन पड़ी है।

गाँवके लोग रोटी, दाल, छाछ, जो जीमें आया, ले आते हैं। इच्छा हुई तो खा लेंगे, न इच्छा हुई तो पड़ा रहेगा। कुत्ते या कौओंका भाग है वह। गाँवके लोग ही

आस-पास सफाई कर देते हैं। एक करवा अवश्य समीप पड़ा रहता है। उसे लोग जलसे भरा रखते हैं।

दिन-रातमें एक बार उठते हैं चबूतरेसे। बड़े सबेरे, अँधेरा रहते ही उठते हैं और बच्चोंके समान भागते-दौड़ते चले जाते हैं। गाँवसे लगभग मीलभर दूर एक छोटा सरोवर है। वहीं इनका नित्यकर्म पूरा होता है। सरोवरमें डुबकी लगाकर गीली लंगोटी ही पहने दौड़े आयेंगे और फिर चबूतरेपर जम जायँगे।

कभी कोई भूला-भटका परमार्थका जिज्ञासु भी आ जाता है। संसारके लोगोंको वैसे ही 'नून-तेल-लकड़ी'की चिन्तासे अवकाश नहीं। पशुप्राय मनुष्य क्षुधा, शरीरके रोग और संततिसे आगे बढ़ा तो अटक गया मान-अपमानको लेकर। इस पशुताकी निद्रासे जगनेवाले थोड़े ही होते हैं; किंतु होते तो हैं ही। कभी-भी इस ग्रामीण क्षेत्रमें भी ऐसे एकाध प्रबुद्ध पहुँच जाते हैं। जो मायाकी मोहिनीको ठेंगा दिखा चुका है, उसीके समीप तो भवाटवीमें भटका पान्थ पथ पूछने पहुँचेगा।

'जपात्सिद्धिः' ये महात्मा हैं कि पूरा श्लोक भी बोलनेका कष्ट नहीं करेंगे। कोई योग पूछे या वेदान्त, भक्ति पूछे या ध्यान—ये एक ही उत्तर जानते हैं। यही क्या कम कृपा है कि जिज्ञासु आवे तो इतना बोल देना चाहिए, यह इनकी समझमें आ गया है। अन्यथा तो ये ठहरे गुमसुम बाबा।

× × ×

'मन तो जपमें लगता नहीं।' एक दिन एक जिज्ञासुने इनके पैर पकड़ लिये। साधु यदि अक्खड़ होता है तो जिज्ञासुओंमें भी एक-से-एक बीहड़ निकल आते हैं। पैर खींचा, झटका, किंतु नहीं छोड़ा उसने। अब क्या कर लोगे उसका ?

'किसने कहा कि मन लगना ही चाहिए ?' अन्ततः गुमसुम बाबा बिगड़कर बोले—'मन तेरे हाथमें नहीं तो उसे लगा देनेको तुझसे कहे, वह मूर्ख! उसे लगानेका प्रयत्न ही तू कर सकता है। जीभ लगाता है ? जीभको चैनसे मत बैठने दे! भाग जा!'

मुझे यह जिज्ञासु अच्छा लगा। शौर्य किसे अच्छा नहीं लगता। गुमसुम बाबासे भी जो इतना कहला ले सके, उसमें शौर्य नहीं है, यह कोई कैसे कह देगा। इच्छा हुई कि उससे बात की जाय। बुलानेपर वह मेरे समीप आ गया। बहुत सरल, सुप्रसन्न और भला लगा मुझे।

'ये संत हैं। संत क्रोध नहीं करते और कभी करें भी, उससे प्राणीका हित ही होता है।' उसने कहा—'संतोंसे भय कैसा ? इनके द्वारा किसीका कोई अमङ्गल हो ही नहीं सकता।'

'जीभको चैनसे मत बैठने दे।' गुमसुम बाबाकी यह बात मुझे अटपटी लगी थी। 'तुम्हें चैनसे रहना है तो जीभको बेचैन बनाये रक्खो।' यही तो इस वाक्यका दूसरा रूप हुआ ? किसी-न-किसीको बेचैन रहना चाहिए और बाबाजीको इसके लिए मिली बेचारी जीभ।

'यही बात बूढ़े तिब्बती लामाने भी कही थी।' वह जिज्ञासु बोला—'उसके कहनेका ढंग दूसरा था; किंतु बात यही कही उसने भी।'

'आप तिब्बत गये थे?' मैंने पूछा।

'अब तिब्बत नहीं जाया जा सकता और जाया भी जाय तो चीनी सैनिकोंकी संगीनोंका आतङ्क क्या वहाँ किसीको सत्सङ्ग करने देगा? वहाँ अब किसी सिद्ध या साधननिष्ठको पा लेना अशक्यप्राय है।' उसने बताया—'मैं ग्रीष्ममें कुलूघाटीमें गया था। घूमनेके विचारसे आगे स्पीति तक चला गया। उस ओर तिब्बतके प्रवासी इन दिनों बहुत आ गये हैं।'

'**ॐ मणि पद्मे हुं**' यह तिब्बती लामाओंका मन्त्र है। पत्थरोंपर, सींगोंपर, धातुके टुकड़ोंपर—जहाँ-तहाँ यही मन्त्र लिखा, खुदा तिब्बतमें दीखता था कुछ वर्ष पूर्व। अब जहाँ तिब्बती प्रवासी आ गये हैं, वहाँ इसे उनकी भाषामें लिखा देखा जा सकता है।

ताम्र-गौर रङ्ग, कपोलकी उभड़ी अस्थि, छोटे नेत्र, भ्रूपर नाममात्रके केश, ऐसे ही दाढ़ी-मूँछके नामपर थोड़े-से बाल, सिरके केशोंकी रङ्गीन ऊनके सहारे गूँथी गयी चोटी, यह वर्णाकृति तिब्बतीकी चर्चा आते ही मनमें आ जाती है। कोई लामा है तो उसके हाथमें एक चर्खी हो सकती है—आवश्यक नहीं कि सदा रहे। उसे वह प्रायः घुमाता रहेगा। उस चर्खीपर उनके मन्त्र '**ॐ मणि पद्मे हुं**' की कुछ आवृत्तियाँ लिखी होती हैं। वृद्ध तिब्बती-

का ललाट और मुख गहरी झुरियोंसे भरा होगा। पता नहीं क्यों तिब्बतके वृद्धोंके मुखपर इतनी गहरी झुरियाँ होती हैं, जो भारतमें बहुत ही कम देखनेमें आती हैं।

'मुझे स्पीतिमें वह लामा मिल गया। झुरियोंने उसके लम्बे ताम्रमुखको भव्य बना दिया था। वह अपने हाथकी चर्खी घुमाए जा रहा था।' उस जिज्ञासुने मुझे बतलाया—'मैंने पूछा तुम यह क्या कर रहे हो?'

लामा बहुत कम हिंदी जानता था। लगता था कि भारतीय लोगोंके सम्पर्कमें पहले भी रहा है; क्योंकि हिंदी समझ लेता था। अपनी टूटी भाषामें आकाशकी ओर संकेत करके बोला—'उसके लिए करता हूँ।'

'उसे तुम्हारे यह करनेसे क्या लाभ?'

'कुछ नहीं' यह हाथके संकेतसे समझाकर फिर हाथकी अंगुली अपने वक्षपर रखकर संकेत भूमिकी ओर किया गया। वह कहना चाहता था—'मैं बहुत छोटा हूँ।' कहा उसने यह—'उसके लिए जो कर सकता करता।'

'मैं क्या करूँ उसके लिए?'

लामा एक क्षण चकित-सा देखता रह गया। उसे आशा नहीं थी कि कोई भारतीय उससे ऐसा प्रश्न करेगा। उसने हाथ जोड़े, सिर झुकाया और हाथ हिला दिया। मैं समझ गया कि वह अपना पिण्ड छुड़ानेके लिए कह रहा है—'आप बड़े हैं, प्रणम्य हैं, मैं आपको कुछ नहीं कह सकता।'

'लामाजी, ऐसा मत कीजिये ! मुझे बतलाया गया है कि आपमें बहुत शक्ति है। आप हिमपात और अन्धड़को कई-कई दिनके लिए रोक सकते हैं। यह शक्ति आपने कैसे पायी ?'

लामाने आकाशकी ओर संकेत करके फिर अपनी चर्खीकी ओर संकेत कर दिया। यह क्या विश्वास करने-योग्य बात है कि कोई केवल चर्खी घुमाते रहनेसे इतना सिद्ध हो जायगा ? अतः मैंने पूछ लिया—'केवल इसे घुमाते रहनेसे उस ऊपरवालेने आपको यह शक्ति दे दी ?'

लामाने फिर ऊपर संकेत किया, सिर झुकाया। लेकिन इसके साथ उसने अपनी जीभ भी हिलाकर दिखायी। चर्खीके साथ जीभ भी हिलायी गयी है, यह बात वह कहना चाहता था।

'आपपर उसकी कृपा है। आप मुझे कुछ बतलाइये। मैं भी इसी प्रकारकी चर्खी ले लूँ ?'

'नहीं !' उसने हाथ हिलाकर मना किया। जीभ दिखाकर, हिलाकर उसने हाथसे संकेत किया—'जीभ हिलाना पर्याप्त है !' फिर जीभ दिखाकर बोला—'बंद नहीं !'

'यह कैसे हो सकता है ? भोजन करना होगा, पानी पीना होगा, सोना होगा और लोगोंसे बोलना भी होगा।'

'खाना, पानी' लामाने संकेतसे भोजन, जल पीने सो-जानेका समर्थन कर दिया और बोला—'बोलना कम !'

अर्थात् भोजन करो, पानी पीओ, सोओ और लोगोंसे कम बोलो। शेष समय जीभ हिलती रहे, यह उसने संकेतसे समझाया।

'जीभ केवल हिलाना है या कुछ बोलते रहना है?'

'नाम' ऊपर संकेत करके बतला दिया कि उनका नाम लेते रहो।

'कौन-सा नाम?'

'जो तुम' शेष वाक्य संकेतसे पूरा कर दिया।

'इससे मुझे आप-जैसी सिद्धि मिल जायगी?'

'कुछ नहीं' संकेतसे कहा गया था कि यह कुछ नहीं है। 'मत' अर्थात् इसे मत चाहो। 'वह' दोनों हाथ ऊपर करके फिर उसने ऐसे बाँधे जैसे किसीको अङ्कमाल दे रहा हो।

'मन हमारे वशमें न सही, जीभ हमारे वशमें है।' वे जिज्ञासु महोदय जानेकी शीघ्रतामें थे। उन्होंने अपनी बात यह कहकर समाप्त कर दी—'ये महापुरुष भी यही कहते हैं कि जीभको निष्क्रिय मत रहने दो। जब भी दूसरा काम न हो, जीभ भगवन्नाम लेती रहे। इस जपसे ही सिद्धि—अभिलषितकी प्राप्ति हो जायगी।

कथा

'कृपया जो जहाँ हैं, वहीं बैठ जायँ ! आगे आनेका प्रयत्न न करें !'

बार-बार यह घोषणा होती थी और यह आवश्यक भी है ; क्योंकि श्रद्धाके आवेगमें लोग व्यासपीठतक पहुँचकर वक्ताको स्वयं पुष्प, पुष्पमाला चढ़ाना, अपनी भेंट व्यासपीठपर अर्पित करना और कुछ न हो तो वक्ता-को समीप जाकर प्रणाम करना आवश्यक मानते हैं।

'पुण्य लूटनेके प्रयत्नमें पाप मत कीजिये ! आप कथामें बाधक बनेंगे तो पाप होगा। आप दूसरोंको धक्का देते, पैरसे स्पर्श करते आगे आयेंगे तो पाप होगा।' बीच-बीचमें जब आवश्यक लगता, वक्ता स्वयं भी यह घोषणा कर देते थे।

व्यासपीठतक पहुँचने, वक्ताको प्रणाम करने, वहाँ भेंट या पुष्प चढ़ानेके आवेशमें लोग देखते ही नहीं कि उनके इस प्रयत्नसे कथा-प्रवचनमें बाधा पड़ती है। दूसरों-को धक्का देते, कुचलते आगे बढ़ना भी दोष है, यह वे समझना ही नहीं चाहते।

कुछ लोग आवश्यकतासे अधिक चतुर होते हैं। चतुर वे अपनेको मानते हैं, केवल इसलिए चतुर ; अन्यथा ऐसी चतुराई तो अज्ञता है। जिससे अपनी हानि हो, उसे चतुराई कोई कहे, उसको क्या कहा जाय ? कथामें, मन्दिरमें आप किसी छल-बलसे आगे पहुँच गये—ठीक है कि दर्शन, श्रवणकी सुविधा अधिक मिली ; किंतु सात्त्विकता प्रथम ही नष्ट हो गयी और दूसरोंको वञ्चित करनेका पाप ले आये यह अलग। जहाँ गये थे पुण्य प्राप्त करने, वहांसे क्या लाये ?

थोड़े-से पुष्प, एकाध माला या दो फल लेकर इसलिए भी लोग कथा-प्रवचनमें जाते हैं कि पीछे पहुँचनेपर भी उसे चढ़ाने भीड़में-से आगे व्यासपीठतक पहुँच जायँ और तब वहीं धक्का-धुक्की करके बैठ सकें।

'आप प्रणाम करेंगे, माला-पुष्प या और कुछ चढ़ायेंगे बड़ी कृपा आपकी ! आपका प्रसाद मेरे मस्तकपर ; किंतु अभी नहीं।' वक्ताने सब चतुराइयोंका द्वार बन्द कर दिया था। वे कह रहे थे—'कथा-समाप्तिके पश्चात् मैं थोड़ी देर बैठा रहूँगा यहाँ। आप उस समय यह सब कर सकते हैं। अभी जहाँ हैं, वहीं बैठकर श्रवण करें।'

'कोई रुपये-पैसे नहीं चढ़ायेगा। आप फल-मेवे-मिठाई व्यासपीठपर चढ़ा सकते हैं ; किंतु यह जानकर चढ़ाइये कि उसे हम सबमें ही बाँट दिया जायगा। व्यासपीठपर चढ़ायो गयो कोई वस्तु, कोई वस्त्र, कोई धन वक्ता स्वीकार नहीं करते। वे उसमें-से कुछ नहीं लेंगे !' कथाकी

समाप्तिके साथ ही यह घोषणा की गयी और कई बार की गयी।

'कथापर चढ़ी कोई वस्तु नहीं लेते?' बड़ा अद्भुत लगा। ऐसा कथावाचक कथा ही क्यों करता है?

बहुत कम ऐसी कथा सुननेको मिलती है। बड़ा हृदयग्राही प्रवचन था। बड़ी मार्मिक व्याख्या की गयी थी। श्रीमद्भागवतके श्लोककी कथा सुनकर ही वक्तामें श्रद्धा हो गयी थी। वे कुछ लेंगे नहीं कथापर चढ़े पदार्थों-में-से, यह जानकर श्रद्धा विशेष पुष्ट हुई।

'इनसे पृथक् मिलना है!' मनमें निश्चय करके उस समय उठ आया। लोग उनकी पद-वन्दना करने, उन्हें माला पहिनाने व्यासपीठके समीप भीड़ किये थे। ऐसे भम्भड़में प्रवेश करना मुझे प्रिय नहीं है। यह अपने और दूसरोंके लिए—प्रणम्यके लिए भी सुविधाजनक नहीं है। वह भी तो भीड़से छुटकारेको ही उत्सुक होगा।

× × ×

'मैं कल कथामें आया था।' उनके ठहरनेके स्थानपर मैं गया तो वहाँ एकान्त नहीं था। एकान्तकी न सम्भावना लेकर गया था और न मुझे कोई गोपनीय चर्चा करनी थी। दस-बारह लोग बैठे थे। चरण-वन्दन करके एक ओर बैठते हुए मैंने कहा।

'बड़ी सुन्दर कथा लगी। ऐसी कथा कम सुननेको मिलती है। मैं बहुत बड़ा [illegible] और [illegible]

कथावाचक हूँ। है न ?' मैं हतप्रभ हो गया उनके मुखसे यह सुनकर और वे खुलकर हँस रहे थे।

'केवल विद्वान् होनेसे…'

'ऐसी कथा नहीं की जा सकती।' उन्होंने मुझे फिर नहीं बोलने दिया। 'मैं भक्त हूँ। आत्मसाक्षात्कार-सम्पन्न हूँ। अनुभवी हूँ। भगवद्दर्शन मुझे हुए हैं। अनेक चमत्कार मुझमें हैं क्यों ?'

मैं क्या उत्तर देता। मैंने संकोचसे सिर झुका लिया।

'मैं विद्वान् हूँ और बहुत अच्छी कथा कहता हूँ, यह सत्य मुझसे अविदित नहीं है।' उन्होंने हँसते हुए कहा। 'मैं ईमानदारीसे पूरा श्रम करता रहा हूँ और अब भी करता हूँ। कथामें जानेसे पूर्व उस श्लोकपर जो टीकाएँ, उत्प्रेक्षाएँ तथा अन्य उपलब्ध साहित्य है, वह पूर्व पठित होनेपर भी एक बार देखकर जाता हूँ। जो श्रम करता है, उसे अपनी सफलताका ज्ञान रहे, यह अस्वाभाविक कहाँ है।'

'वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।'

दो क्षण रुककर बोले—'यह तो मेरे समीप है ; किंतु भावुकतामें मत बहिये ! इसमें भक्ति, भगवद्दर्शन, आत्म-साक्षात्कार या चमत्कार कहाँ आता है कि उसे आप मुझमें आरोपित करते हैं !'

'जो सूक्ष्म व्याख्या आपने की… ।'

'वह एक अनुभवी ही कर सकता है।' फिर उन्होंने मुझे बोलने नहीं दिया। 'वे बातें आपने सुन तो ली ही हैं। अब दूसरोंसे आप उन्हें कहेंगे तो आप भी अनुभवी हुए। इतना भोलापन अच्छा नहीं। वे बातें कही अनुभवी महापुरुषोंने ही हैं, यह ठीक है; किंतु मैं उनके ग्रन्थोंसे उन्हें पढ़कर क्यों जान नहीं सकता? मैं तो उनकी बातें दुहरानेवाला ही हूँ।'

'आप कथा क्यों करते हैं?' प्रश्न इतना अटपटा था कि मुखसे निकलनेके पश्चात् स्वयं मुझे सङ्कोच हुआ।

'यह मेरा साधन है।' वे बहुत गम्भीर हो गये। 'मेरी कुल-परम्परा कथा-वाचकोंकी है। बहुत छोटा था, तबसे मुझे यह कार्य सिखलाया गया। पहले यह कार्य आजीविकाके रूपमें मैंने अपनाया और अब भी यही मेरी आजीविका है।'

'आप कथापर चढ़ा तो कुछ लेते नहीं।'

'हाँ, मैं कथा-विक्रय नहीं करता।' वे बोले। 'कुछ दक्षिणा निश्चित करके कथा-प्रवचनकी बात तो कभी कल्पनामें भी नहीं आयी थी। लोग ऐसा भी करते हैं, सुना तो बड़ा क्लेश हुआ। पहले ग्रन्थपर चढ़ौती होती थी। जब समझ आयी, इस कथाको ही जबसे साधन बनाया। कैसे सम्भव है कि मैं अपना साधन ही बेच दूँ।'

'तब कथासे आजीविका?'

'सो तो चलती ही है।' वे कह रहे थे। 'अन्तर यह अवश्य पड़ गया है कि ग्रन्थपर लोग पुण्यबुद्धिसे जो यथा-

शक्य अधिक दक्षिणा चढ़ाते हैं, वह नहीं मिलती ; किंतु बहुत-से श्रोता व्यक्तिगतरूपसे कुछ दे जाते हैं। पर्याप्त है वह मेरे लिए।'

'कथाको आपने साधन बनाया है।'

'हाँ—केवल आजीविकाका साधन बनाकर चला था बचपनमें, अब यही मेरा आध्यात्मिक साधन भी है।' वे सीधे बैठ गये और स्थिर दृष्टिसे मेरी ओर देखते हुए बोले—'कथा-श्रवण साधन है, यह तो आप-जैसे सत्सङ्गीको बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। श्रोता भगवत्कथा सुनता है, तब उसका मन भगवच्चरित्रमें लगता है। वक्ताको अध्ययन करना पड़ता है, बहुत कुछ स्मरण रखना पड़ता है और सुनाना पड़ता है। उसे मनको कहीं अधिक लगाना पड़ता है।'

'इससे पूर्व भी मैं कथा-वाचकोंके सम्पर्कमें आया हूँ।' मैंने तनिक विरक्त स्वरमें कहा।

'उनकी कुछ समस्याएँ हैं।' वे गम्भीर बने रहे। 'जिसे सदा ही नवीन स्थान नवीन लोगोंमें रहना है, वह अपनी आवश्यकताओंके प्रति सङ्कोची नहीं रह सकता। उसे कुछ माँगने—आज्ञा देने, हठतक करनेमें सङ्कोच नहीं होता। परिस्थिति उसे निःसङ्कोच—कह सकते हैं कि स्वार्थी बना देती है। अपनी सुविधा ही उसे प्रधान जान पड़ती है। कितने लोग हैं जो यात्रामें दूसरेकी सुविधापर ध्यान दे पाते हैं ?'

मैं कुछ बोला नहीं ; किंतु स्पष्ट था कि मुझे इस उत्तरसे कोई सन्तोष नहीं हुआ। 'आजकल फैशन हो गया है आत्मस्वीकृतिका—मैं इसे बुरा समझता हूँ ; किंतु त्याग नहीं पाता। मेरी दुर्बलता है।' दुर्बलता है तो सिर पटको और छोड़ो, अथवा उपदेश, कथा बन्द करो। अपने सार्वजनिक जीवनका त्याग करो। तुम्हारा जीवन जितना सार्वजनिक—व्यापक होगा, तुम्हारी दुर्बलता भी उतनी व्यापक होगी।

जो त्याग-वैराग्यका उपदेश करते हैं, उनकी दृष्टि पैसेपर ही टिकी रहे, जो अमानी होनेका उपदेश करें, वे मञ्चपर बैठकर तनिक-से अपमानकी गन्धसे लाल हो उठें, जो ज्ञान-भक्तिकी लम्बी-चौड़ी व्याख्या करें, वे अत्यन्त देहासक्त, स्वसुख-परायण पाये जायँ—ऐसे लोगोंको उपदेशक, कथावाचक बननेका अधिकार है ? रामराज्य होता, हो पाता, ये उपदेशक पूजित होते या कारागारमें होते ? श्रीबलरामने कथावाचक सूत रोमहर्षणको मार दिया था। उस समय वह घटना भ्रमवश हुई ; किंतु उसके पीछे जो तथ्य है, वह तो भ्रम नहीं है। उन्होंने कहा था—

'वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः।'

मैंने यह सब कहा नहीं। लेकिन मेरे मनमें ये बातें अवश्य आयीं। मेरे मुखपर वितृष्णाके भाव आये हों तो आश्चर्य नहीं है।

'तुम्हारा आक्रोश उचित है।' वे बोले। 'ऐसा आक्रोश आजके युवकोंमें है और मैं इसे शुभ लक्षण मानता हूँ।'

'जो यश या धनके लिए भगवत्कथाका आश्रय लेते हैं, उन्हें इस कल्पवृक्षसे वह प्राप्त होता है।' वे गम्भीर बने रहे। 'वे केवल दूसरोंको सुनानेके लिए पढ़ते, स्मरण करते हैं। उनका पठन-स्मरण सुना देनेके लिए है। वे तो रिकार्ड हैं। रिकार्ड कुछ भी बजे, उससे यन्त्रकी स्वच्छता तो नहीं होती, उनका पठन-स्मरण उनके अपने चित्तको स्पर्श नहीं करता। वे तो त्याग, सेवा, तप, भक्ति, ज्ञानादिकी बातोंको केवल सुनानेकी बातें मानते हैं।'

'केवल सुनाना भी बुरा नहीं है। मैं भी केवल सुनाता ही हूँ।' तनिक हँसकर वे फिर गम्भीर हो गये। 'बात इतनी है कि मैं किसी सेठ, साहूकार, मन्त्री, पदाधिकारी बाबूजीको कुछ सुनानेमें उत्साह नहीं रखता। कथाके लिए जाना है, इस बातके मनमें आते ही आता है कि जिसकी कथा सुनानी है, वही बुला रहा है। वह नाना रूप, नाना वेश धारण करके बैठेगा सुननेके लिए। उसे अपनी कथा सुननेमें रस आता है। उसे सुनाना है, अतः श्रम करो! पूरी योग्यतासे सुनाओ!'

मैंने उनके चरणोंपर मस्तक रक्खा। अब उनसे कुछ कहनेके लिए मेरे समीप कोई शब्द नहीं था।

कीर्तन

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ।।

(श्रीमद्भा० १२।३।५१)

'संकीर्तनकी चार पद्धतियाँ हैं—१. हनुमदीय, २. शाम्भवी, ३. नारदीय और ४. वैयासकीय ।' उन्होंने स्वयं इनकी व्याख्या की—'प्रेमोन्मत्त होकर स्वर-तालकी बात भूलकर, उछलते-कूदते, उद्दाम नृत्य करते जो कीर्तन किया जाता है, वह हनुमदीय पद्धतिका कीर्तन है । आप मेरा शरीर देख ही रहे हैं, इस पद्धतिका श्रम सँभालनेकी शक्ति मुझमें नहीं है ।'

श्रोताओंको सहज हँसी आ गयी । बहुत कृशकाय हैं वे और लम्बे कुर्तेके ऊपर दुपट्टा डालकर अधिक दुर्बल ही दीखते हैं । वैसे ही सिर छोटा है और मुख लम्बा, उसपर जब महाराष्ट्र पण्डितोंवाली गोल पगड़ी रख लेते हैं, उन्हें देखकर लोग प्रायः मुस्करा देते हैं । अब इस सूखे शरीरसे वे उछल-कूदकर उद्दाम कीर्तन करने लगें, यह कैसे बनेगा ? उनकी देह तो ऐसी है कि डर लगता है, झटका लगा और टूटी अथवा आँधीमें पड़े तो उड़ जायँगे ।

'स्वर-तालके साथ लास्य या ताण्डव नृत्य करते हुए, नृत्यके नियमोंका पालन करते जब संकीर्तन किया जाता है, तब वह शाम्भवी पद्धति होती है।' उन्होंने बतलाया 'इस पद्धतिसे संकीर्तनके लिए नृत्य-संगीत दोनोंका प्रशिक्षण आवश्यक है। कुशल नर्तक ही यह पद्धति अपना सकते हैं।

'बंगाल तथा उत्तर भारतमें प्रायः नारदीय पद्धतिसे संकीर्तन होता है।' वे कह रहे थे—'बाजोंके साथ अथवा बिना वाद्यके, बैठे हुए अथवा खड़े होकर भगवन्नामका संकीर्तन नारदीय पद्धति है। इसीमें जब लोग प्रेमोन्मत्त होकर उछल-कूद करने लगते हैं, वह हनुमदीय पद्धति हो जाती है।'

'एक भूल मत कीजिये!' वे खुलकर हँसते होंगे कभी, ऐसा उनके मुखको देखकर लगता नहीं। ओष्ठोंमें ही मुस्कराये—'जान-बूझकर हाथ-पैर पटकना, उछलकूद करना और चश्मा बचाकर मूच्छित होकर गिरना कोई स्वस्थ पद्धति नहीं है। यह तो रुग्ण पद्धति है। मानसिक रोगी ही दम्भ करते हैं। वे दयाके पात्र हैं।'

'महाराष्ट्रके वारकरी सम्प्रदायने संकीर्तनकी वैयासकीय पद्धति अपना रक्खी है। मैं इसी पद्धतिका अनुसरण करता हूँ।' वे बोले—'बीच-बीचमें नाम-ध्वनि, पद-कीर्तन और भगवान् एवं उनके भक्तोंकी कथा चलती रहे, यह भगवान् व्यासकी पद्धति है। इसमें प्रमुख कीर्तनकार कथा सुनाता है, तब दूसरे श्रोता होते हैं और जब वह

नाम-ध्वनि या कोई पद्यांश कीर्तन करता है तो सब उसका साथ देते हैं।'

एक हाथमें करताल और एकमें एकतारा लेकर वे खड़े थे श्रोताओंके मध्य। कभी एकतारेका तार झंकार करता था और कभी करताल। इतनी व्याख्या संकीर्तनकी करके उन्होंने प्रारम्भ किया—

'गोपाल गोविन्द कृष्ण, गोपाल गोविन्द कृष्ण,
गोपाल गोविन्द कृष्ण गोपाल।'

× × ×

एक सज्जन थे—उन्हें सज्जन ही कहना चाहिये; क्योंकि किसीको दुर्जन तो वह कहता है, जो स्वयं दुर्जन होता है। महाराज युधिष्ठिर दुर्योधनको भी 'सुयोधन' कहते थे। इतनी बात अवश्य थी कि वे सज्जन भटक गये थे—कहीं मेले-ठेले या जंगलमें नहीं, जीवनके पथमें। बहुत लोग भटक जाते हैं इस पथमें। बड़ा बीहड़ है यह जीवन-पथ!

'सँभालके चल रे बटोही! बटमार लगे इस मगमें।'
'तेरी गठरीमें लागा चोर बटोही क्यों सोवै।'

बेचारे भटक गये थे और जब कोई भटक जाता है तब क्या होता है? बिना मार्गके चलना पड़ता है। दुःख उठाता है और ठोकरें खाता है। सुमार्गकी बात तो बहुत स्पष्ट है—

एष निष्कण्टकः पन्था यत्र सम्पूज्यते हरिः।
कुपथं तद्विजानीयाद् गोविन्दरहितागमम्॥
हरि नारायण गोविन्द गोविन्द !
हरि नारायण गोविन्द गोविन्द !

वे सज्जन मार्गसे भटक गये और तब क्या हुआ ? हुआ वही जो इस भवाटवीमें भटकनेवालेका होता है। उन्होंने मान लिया—

टका धर्मः टका कर्म टका हि परमं तपः।
टका हि जीवनं सर्वं बिना टका टकटकायते॥

रात्रिमें स्वप्न ठनाठन नारायण और दिनमें प्रयत्न यही कि कैसे किससे क्या छीन लें, झपट लें, ठग लें।

थोड़े दिनों तो यह गाड़ी खूब चली। पापकी गाड़ी पहले दौड़ती है। ऐसे दौड़ती है, जैसे सरपट भाग रही हो; किंतु वह तो भारी खड्डमें गिरनेकी गति है। दौड़ी-दौड़ी और धड़ाम ! गोविन्दाय नमो नमः !

उन सज्जनकी गाड़ी भी दौड़ी। कोठियाँ खड़ी हुईं, मोटरें दौड़ने लगीं और पेटका घेरा बड़ा होता गया। भला वे मेरे-जैसे दुर्बल क्यों रहते ? साथ ही खोपड़ीके भीतर सूजन बढ़ती गयी—अहंकार बढ़ता गया। दृष्टि मोटी होती गयी और व्यसन तथा मोह बढ़ते गये।

घर धन आया पापका लाया संगी साथ।
रोग, लड़ाई, मोह-मद, व्यसन लगेंगे हाथ॥

घरके लड़के-लड़कियोंका पूछना क्या। उन सज्जनको बाहर कोई भले आँख न दिखा सकता हो, घरमें तो

श्रीमतीजी और मुन्ने-मुन्नी बात-बातपर झिड़क देते थे। शरीर पहलेसे रोगी था, रोग बढ़ता गया और एक नियम तो आप जानते ही हैं—

क्षते प्रहाराः प्रपतन्त्यभीक्ष्णं छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति।

उन सज्जनको व्यापारमें घाटा लग गया। मोटर, कोठी बिक गयी थी। अब घरमें तो सम्मान पहलेसे नहीं था, बाहरके ठकुरसुहाती कहनेवाले भी आँख चुरा गये।

> अपबल तपबल और बाहुबल चौथो है बल दाम।
> सूर किसोर कृपा तें सब बल हारेको हरिनाम॥
> भजो राम सीताराम सीताराम सीताराम।
> जय जय राम सीताराम सीताराम सीताराम॥

उन सज्जनके लिए एक बात अच्छी हुई, उनके पूर्व-जन्मके पुण्य जागे और उन्हें सत्संगमें जानेका स्मरण हुआ। मनुष्यमें जब जन्म-जन्मके पुण्य जागते हैं, तब उसे सत्संग, भजन, कीर्तन अच्छा लगता है। नहीं तो स्वयं मर्यादापुरुषोत्तमने कहा है—

> पापवंत कर सहज सुभाऊ।
> भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥

वे सज्जन सत्संगमें जाने लगे। उन्हें संतोंकी खोज रहने लगी और—

'जिन खोजा तिन पाइयाँ।'

एक विरक्त फक्कड़ संत एक बार उस बस्तीमें आये। भगवानकी कृपा हुई और उन सज्जनको संत मिले।

बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।
सतसंगति संसृति कर अंता॥
संत बिसुद्ध मिलइ पुनि तेही।
राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥

वे सज्जन दुखी हो गये थे रोगसे, निर्धनतासे, और घरवालोंके तिरस्कारसे। अब कोई उनकी सुननेवाला नहीं था। संतके समीप वे रो पड़े—

हुआ निराश-उदास, मिटा विश्वास जगतके भोगोंका।
जिनके लिये खो दिया जीवन पता लगा उन लोगोंका॥

वे सज्जन रोकर बोले—'लेकिन महाराज! इतना अधम हूँ कि अब भी मोह जाता नहीं। घर-परिवारके लोंगोका क्या होगा, इसी चिन्तामें रात-दिन घुलता रहता हूँ। तृष्णासे जल रहा हूँ।

'तृष्णा तू न गई मेरे मनतें।'

'कोई उपाय बतलाइये! मुझ-जैसे पापी, रोगीके उद्धारका कोई उपाय बतलाइये।'

संत हृदय नवनीत समाना।
कहा कबिन पर कहइ न जाना॥
निज दुख दाह द्रवइ नवनीता।
पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

संतको दया आ गयी। उन्होंने सोचा-विचारा और वे बोले—

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा।
सुमिरत नर पावहिं भव थाहा॥
नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं।
करउ विचार सुजन मन माहीं॥

इसलिये तुम केवल कीर्तन करो! दम्भ-छल छोड़कर केवल रट लगाये रहो—

राम राघव राम राघव राम राघव रक्ष माम्।
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम्॥

बात और बाण सदा निशाने पर नहीं लगते। जब लगते हैं, बस पार हो जाते हैं। उन सज्जनको संतकी बात लग गयी। बात लगी और धुन चढ़ी। अब उनकी चढ़ी धुनसे कोई चिढ़े या प्रसन्न हो, कोई हँसे या रोवे, उन्होंने तो एक नन्हीं करताल मँगा ली और वह खटकती है—

जय नँदलाल जय गोपाल जय मधुसूदन वनमाली।
राधामोहन कंसनिषूदन वंशीधर गिरिधारी॥

घर-बाहरके लोगोंने कहा—रोग और आर्थिक हानिने इसे पागल कर दिया है।

लोग कहैं मीराँ भई बावरी।

लोग तो ऐसोंको पागल कहते ही हैं। घरके लोग निराश हो गये। कह-सुनकर तो दोनों बड़े लड़कोंने कारबार सँभाला। अब उन सज्जनने जो साधुओंमें मन

लगाया, धीरे-धीरे तन स्वस्थ होने लगा । रोग भागने लगा और मनसे मोह भी भाग खड़ा हुआ ।

राम रटनमें मन रमा, माया नासी हूह ।
काम क्रोध मद लोभका हुआ मकबरा ढूह ॥

उन सज्जनको संसार भूलता जा रहा था, लोगोंके लिये वे मरे-जैसे हो गये थे; क्योंकि जो संसारको भूले, उसे संसार क्यों स्मरण करे ; किंतु उनको स्मरण करनेवाला एक नया निकल आया था । द्वारिकामें वह मोर-मुकुटवाला वनमाली महारानी रुक्मिणीसे कहता था—

जो भूला संसार, उसे भूले संसार,
नंदलाल उसे भूल नहीं सकता ।
जिसने त्यागा सब भार, जिसे मुझसे है प्यार,
गोपाल उससे दूर नहीं रहता ॥

अत:—आप सब मनसे कहें ! वाणीसे कहें ! प्रेमसे कहें !

जय जय गोपाल, जय जय नँदलाल,
गिरिधारी मुरारीकी जय जय जय ।

× × ×

प्राय: वे भगवत्प्राप्तिके समीप लाकर ही कीर्तन समाप्त करते थे । जयध्वनिके साथ संकीर्तन उन्होंने समाप्त किया और समस्त श्रोता आरतीके लिये खड़े हो गये ।

अधिदेवता

'हमने यहाँ आकर भूल की। हमें यहाँ नहीं रहना चाहिये।' उनके मुखपर किंचित् क्षोभके भाव थे। 'मैंने यहाँ बहुत बुरा स्वप्न देखा। स्वप्नमें बहुत भय लगा।'

उन्हें स्वप्नमें ही भय लगा हो, यह बात नहीं ; वह भय जाग्रत्में भी इस प्रकार मनमें बैठ गया कि एकाकी कुछ क्षण भी उस भवनमें आगे वे नहीं रहीं। वे संन्यासिनी हैं, वर्षोंसे एकाकिनी रहती हैं बस्तीसे पर्याप्त दूर ; किंतु अन्ततः महिला जो ठहरीं।

'क्या देखा तुमने जीजी!' उनके एक मामाके पुत्र संन्यासी हो गये हैं, वे भी साथ आये थे। अब स्मरण नहीं कि उन्होंने भी कोई स्वप्न देखा था या नहीं। स्वप्नका विवरण अनावश्यक है ; एक काला, मोटा, काना पुरुष—उसकी चेष्टाने उन्हें डरा दिया था।

'स्वप्न तो मैंने भी देखा है।' मैं बता दूं कि मुझे बहुत कम स्वप्न दीखते हैं ; किंतु उस रात्रि उस सुनसान पड़ी रहनेवाली कोठीमें मैंने भी स्वप्न देखा था। कोई विशेष बात नहीं थी, जैसे कोई पहाड़ी वृद्धा स्त्री सिरके पास

श्रा बैठी थी। 'डरनेकी तो कोई बात नहीं है। कल हमलोग यहाँ देरसे आये थे। अब आज यहाँ स्वभावतः आजका भागवत तथा गीताका पाठ होगा। आगे कोई दुःस्वप्न दीखे, इसकी कोई सम्भावना नहीं।' सचमुच हम आठ दिन उस भवनमें रहे; किंतु किसीको कोई स्वप्न-दुःस्वप्न फिर नहीं दीखा।

कुछ दिन पहिले मैं नीलकण्ठ आया था, ऊपर भुवनेश्वरीको जाते समय यह कोठी देख गया था। नीलकण्ठ कुछ दिन रहनेका विचार था और रहनेके लिये ऐसा एकान्त, खुला भवन भला किसे पसंद नहीं होगा। दो-चार दिन बाद जब हम कुछ दिन रहनेके लिये आये, तब इस कोठीमें आ गये।

ऋषिकेशसे लगभग सात-आठ मील दूर पर्वतोंसे घिरा यह नीलकण्ठ तीर्थ अपनी अनोखी सुषमा रखता है। यहाँका शान्त, पवित्र वातावरण—नीलकण्ठकी चर्चा फिर कभी। यह कोठी नीलकण्ठसे लगभग एक फर्लांग ऊपर है। नीलकण्ठ आते समय यही पहिले दृष्टिपथमें आती है।

कभी बड़ा वैभव रहा होगा यहाँका। किसी रानीने अपने एकान्तवास तथा भगवद्भजनके लिए इसे बनवाया था। उस समयके उपवनकी मात्र कल्पना देनेवाले कुछ फलवृक्ष तथा मल्लिकाकी जंगली-सी बन गयी लताएँ अब बच रही हैं।

दो विशाल कोठियाँ हैं। उनमें मुख्य कोठी तो अब रहने योग्य नहीं। सूने भवनसे कुछ मिल जानेके लोभमें

अपनी मानवतासे च्युत मनुष्योंद्वारा उसकी साँकलें-कुंडे इस प्रकार तोड़ दिये गये थे कि अब उसका कोई द्वार बंद करके आप बाहर जा सकें, ऐसी स्थिति नहीं। उसमें श्रावण मेलेके समय अवश्य यात्री रात्रि-निवास करते होंगे ; क्योंकि एक बड़े कमरेमें जले बीड़ीके टुकड़ोंकी ढेरी पड़ी थी।

दूसरी कोठी उससे कुछ कम सज्जित है ; किंतु अपेक्षाकृत स्वच्छ और सुरक्षित है। दूसरी कोठीमें स्नान-घर भी है और उसके पाइपमें अब भी जल आता है। हम इस दूसरी कोठीमें ही ठहरे थे। वैसे अब ये कोठियाँ नैपालके अधिकारमें हैं। सर्वथा उपेक्षित होनेसे जीर्ण हो गयी हैं और उनके अंश गिर रहे हैं। नौकरोंके भवनोंमेंसे बहुत-से गिर चके हैं ; जो हैं भी, वे रहने योग्य नहीं।

दोनों कोठियोंके मध्य सम्भवत: पुराना रसोईघर है। उसमें एक पर्वतीय वृद्धा रहती है। वही कोठियोंकी चौकीदार है। उसने भैंस, गाय, भेड़ें पाल ली हैं। काठीके पासकी भूमिमें कुछ बो लेती है। भूले-भटके मेरे-जैसे यात्री आ टिके तो कुछ पारितोषक मिल जाता है, बस। अब कोठीके स्वामी या उत्तराधिकारी तो सम्भवत: यह भूल ही गये हैं कि उनकी यहाँ कोई कोठी भी है।

हम कोठीमें आनन्दपूर्वक रहे। अबाबीलोंके लिए पर्याप्त कमरे खाली पड़े थे। हमने उन्हें बाधा नहीं दी और वे भी रात्रिमें यदा-कदा देखने ही आती थीं हमारे

कमरेमें कि उनके यहाँ ये तीन द्विपाद् पक्षहीन अतिथि कैसे आ गये हैं।

× × ×

'यहाँका अधिदेवता मर गया है।' मेरे वे बन्धु स्वर्गाश्रमसे पधारे थे। उनकी व्यवस्था न होती तो हम इस पर्वतीय स्थानमें इस प्रकार रह नहीं पाते। वे मुझसे मिलने ही आये थे। यह कठिन चढ़ाई पार करके और भोजनोपरान्त मध्याह्नविश्राम करने हमारे समीप कोठीमें आ गये थे। 'यहाँ आपलोगोंको नहीं रहना चाहिये। आप नीचे धर्मशालामें ऊपरके कमरेमें निवास करें।'

उन्होंने पता नहीं क्या अनुभव किया। अवश्य उन्हें कुछ मानसिक उद्वेग अनुभव हुआ होगा। रात्रि-विश्राम उन्होंने वहाँ न करके नीचे किया और हमारे लिये भी नीचेकी धर्मशालामें एक कमरेका प्रबन्ध करके तब दूसरे दिन प्रातः लौट गये।

'अधिदेवता मर जाता तो यह भवन टिकता नहीं।' मैं मन-ही-मन सोच रहा था—प्रत्येक पदार्थका अधिदेवता होता है, यह हिंदू-शास्त्र बतलाते हैं। वह भवन हो या छोटा कलश अथवा कुर्सी—पदार्थ बनता है और उसका अधिदेवता उसमें आ बसता है, जैसे शरीर माताके गर्भमें आया तो जीव उसमें आ जाता है। अधिदेवता प्रसन्न रहे तो पदार्थका उपयोग करनेवालेको वह पदार्थ सुख, शान्ति, लक्ष्मी और सुयश देनेवाला होता है और अधिदेवता

अप्रसन्न हो जाय तो पदार्थ दुःख, अशान्ति, रोग, दरिद्रता, अयशादिका हेतु बन जाता है ।

घर बनाकर क्षेत्रपालका पूजन तथा प्रत्येक पदार्थका उसके उपयोगसे पूर्व पूजनका विधान—परिपाटी सनातन-धर्ममें उसके अधिदेवताकी तुष्टिके लिये ही है ।

'अधिदेवता मर जाता तो भवन टिका कैसे रहता ।' अधिदेवता भी मरता तो है । ग्रामका अधिदेवता मरता है तो ग्राम, घरका मरे तो घर और नगरका मरे तो नगर नष्ट हो जाता है । वहाँ दूसरा ग्राम, घर या नगर बसानेके प्रयत्न निष्फल जाते हैं और ऐसे प्रयत्नोंमें बहुत हानि होती है धन तथा जीवनकी भी ।

'जीव न रहे तो शरीर टिका कैसे रहेगा । वह सड़ जायगा ।' किंतु एक विचार साथ ही आया—'मनुष्य बहुत दिनोंतक अकेला रहे तो जनसम्पर्कमें जाना नहीं चाहता । सूने भवनका अधिदेवता भी तो एकान्तप्रिय हो जाता होगा । उसे उद्वेग होता होगा लोगोंके आनेसे और तब वह उन्हें उद्विग्न करता होगा ।'

'आज यहाँका अधिदेवता दुःखी होगा ।' हम जब उस कोठीको छोड़कर नीचे जाने लगे, तब उन संन्यासिनी महिलाने कहा—'हमारे रहनेसे यहाँ दीपक जलता था, पाठ-पूजा होती थी और कम-से-कम दो-तीन कमरोंमें स्वच्छता तो रहती थी ।'

'अदश्य वह दुखी होगा ।' मुझे भी यही लगा । हम कोठी जब छोड़ना चाहते थे, तब छोड़ नहीं सके थे । दो

दिनका विलम्ब हुआ था और वह भी नाममात्रके कारण-से। लगता था कि अधिदेवताको हमारा वहाँसे जाना अच्छा नहीं लगा था।

हम कोठी छोड़ देनेको उत्सुक थे; क्योंकि उसमें फुदकनेवाले छोटे कीड़े—पिस्सू बहुत थे और हमारे यहाँ आ जानेसे उन्हें उद्वेग हो रहा था। उद्विग्न होकर वे हम सबको उद्विग्न करते थे। उनके काटनेसे लाल फफोले उठ जाते थे और उनमें खाज तथा जलन होती थी। ऐसे फफोलोंकी संख्या दस-बीस प्रतिदिन शरीरपर बढ़ जाय, इतनी सहनशीलता हममें नहीं थी।

'हम यहाँ आये और रहे। यहाँके अधिदेवताको हमने आनेपर न तो प्रणाम किया और न उसके निमित्त एक धूपवत्ती जलायी, न दो पुष्प अर्पित किये।' जाते-जाते मुझे यह स्मरण आया। यह भी मनमें आया कि प्रथम दिन जो स्वप्न दीखे, उसमें यह भी हेतु हो सकता है।

'लगता है वह भी उदासीन हो गया है इस भवनसे।' जब भवनके वर्तमान स्वामी ही उसकी खोज-खबर नहीं रखते तो ऐसे जीर्ण, अस्वच्छ, धूलि, पक्षियोंकी बीट तथा गंदगीसे भरे, नित्य अन्धकारपूर्ण भवनमें उसके अधिदेवता-को क्या प्रसन्नता होगी। एक दिन वह इसे छोड़ देगा और भवन नष्ट हो जायगा।

'मैं उसे प्रणाम करूँगी।' संन्यासिनी महिलाने कहा। सचमुच भवनसे उतरकर उन्होंने नीचेकी सीढ़ीपर मस्तक

रखा और भवनके अधिदेवतासे क्षमा माँगते हुए विदा ली।

हम नीचे धर्मशालामें चले आये ; क्योंकि हमें पिस्सुओंके मध्य रहना स्वीकार नहीं था। उस भवनके अधिदेवता—उन्हें मेरा प्रणाम ! हम जहाँ रहते हैं, जिन वस्तुओंका उपयोग करते हैं, उनके भी तो अधिदेवता हैं। उनकी ओर हमने कभी ध्यान दिया ? उन्हें हमारी केवल प्रणति ही तो अपेक्षित है।

इस विराट् विश्वका अधिदेवता—वह परमपुरुष, अच्छा अब उसकी चर्चा रहने दें। वह प्रत्येकका अपना है—उसे तो प्रणति भी नहीं, केवल यह अपेक्षित है कि उसे अपना अनुभव किया जाय।

अभ्युदय

(१)

आपने कभी अपने अभ्युदयका स्वप्न देखा है ? आप जानते होंगे कि यह स्वप्न भी कितना सुखदायी, कितना भव्य होता है । लेकिन कितनोंका वह स्वप्न पूरा होता है ? फिर वह तो स्वप्न है, स्वप्न पूरा हो जाय, वही एक स्वप्न बना रहे तो फिर स्वप्न क्या । एक स्वप्न पूरा होगा, यह आशा भी जान पड़े, इससे पहले तो दूसरा स्वप्न सजीव हो उठता है । और, और, और—किसीके मनकी भूख कभी पूरी हुई है ।

आपको आश्चर्य होगा—एक है जो कहता है—'मेरा स्वप्न पूरा हो गया । भले मेरा वही स्वप्न ज्यों-का-त्यों पूरा नहीं हुआ ; किंतु मेरे स्वप्नकी सीमा हो गयी । मे ुदयके जो कुछ होना-हवाना होगा, हो रहेगा । मैं अपने अ आज यश शिखर देख चुका । रही वहाँ पहुँचनेकी बात स र मैं व्याकुल दस दिन पीछे । जो मेरा काम नहीं, उसके लि नहीं बनता ।'

आपको और अधिक आश्चर्य होगा—उसके सारे स्व न नष्ट हो गये हैं न उसका एक भी स्वप्न सफलताकी

ओर बढ़ा नहीं। लेकिन वह तो ऐसा मौजी है, जैसे वही इस सारे विश्वका सम्राट् है।

एक दूसरा भी है। उसके स्वप्न सत्य ही होते रहे हैं। उसने स्वप्न देखा और जुट पड़ा। सफलताकी देवी उसके आगे जैसे हाथ बाँधे खड़ी रहती हैं। वह ऐसा है कि उसके समकक्ष बैठनेका स्वप्न भी बहुतोंके लिये असम्भव-सा स्वप्न है। वह उन्नत है, यशस्वी है, सबल है। अधिकांशकी दृष्टिमें वह अभ्युदयके शिखरपर पैर रखकर खड़ा है।

आपको फिर भी आश्चर्य होगा—वह कहता है—'मेरा स्वप्न यदि सत्य हो पाता! मैं अभी अभ्युदयके महा-पर्वतके नीचे ही तो खड़ा हूँ। मस्तक उठानेपर उसका शिखर देखतक नहीं पाता मैं।'

वह चाहे जितना गर्विष्ठ दीखे, चाहे जितना झल्लाये, यह सब तो अपनी दुर्बलता छिपानेके उसके प्रयत्नमात्र हैं। वह कितना दीन, कितना लघु, कितना दुर्बल है अपने-आपमें, यह वही जानता है। यह सब मिलकर उसे निरन्तर अशान्त, क्षुब्ध, चिन्तित बनाये रखते हैं। उसका क्या दोष है यदि वह झल्ला उठता है अथवा बाहरसे अपनेको गर्विष्ठ दिखाकर संतुष्ट होनेका प्रयत्न करता है।

आपने कभी पर्वतोंकी चोटीपर चढ़नेका मन किया है? एक चोटीपर चढ़ो तो दूसरी उससे ऊँची दीखती है। दूसरीपर चढ़ो तो तीसरी और तीसरीपर चढ़ो तो

चौथी। चलता रहता है यही क्रम। उन्नति, अभ्युदय— उसके स्वप्न नये-नये होते रहते हैं। वह जव मस्तक उठाता है, उसे प्रत्येक क्षेत्रमें बड़े—अपनेसे बहुत बड़े दीखते हैं। वह बढ़कर उन्हें छूनेका प्रयत्न करता है, छू लेता है और सिर उठाता है; किन्तु वहाँ तो बड़े—बहुत बड़े दूसरे सामने खड़े दीखते हैं। उसका मस्तक झुक जाता है। वह फिर उद्योगमें लगता है।

नीचे-नीचे बहुत नीचेतक लोग हैं उसके। वे भी मनुष्य हैं। उनका भी जीवन है। उनके भी स्वप्न होंगे। उनका भी सुख-गौरव होगा ही। उनका भी काम चल जाता है। लेकिन पर्वतपर चढ़कर नीचे देखा जाय—कितने तुच्छ दीखते हैं नीचेके पदार्थ। वह क्यों नीचे देखे? नीचेके तुच्छ समुदायपर वह क्यों ध्यान दे। वहाँ वह अपना स्थान देखनेकी कल्पना करे—छि:।

उसे ऊपर जाना है। अभ्युदय प्राप्त करना है— महत्तर अभ्युदय। वह बड़ा होना चाहता है—ऐसा बड़ा, जिससे वड़ा और कोई न हो। कम-से-कम अपने क्षेत्रमें उसे सर्वोच्च होना ही चाहिये। वह प्रयत्न कर रहा है—निरन्तर प्रयत्न कर रहा है।

यह तो संसार है। यहाँ क्या महत्ताकी कोई सीमा बनी है? एकसे बड़ा दूसरा और दूसरेसे बड़ा तीसरा, यहाँ क्या इसकी कोई इयत्ता हो सकती है। उसका स्वप्न, उसका अभ्युदय, उसकी महत्ता—लेकिन कोई अनन्त

आकाशको माप लेने चल पड़े तो उसका कार्य कब समाप्त होगा, यह आप बता सकते हैं ?

उसकी अशान्ति, उसकी उलझन, उसकी व्यग्रता, उसका असंतोष बढ़ता जा रहा है। यह तो कहावत है न कि 'पैसेवाला रोवे पैसेको और रुपयेवाला रोवे रुपयेको।' सो पैसेवालेके पास दुःख पैसेभर और रुपयेवालेके पास दुःख रुपयेभर तो रहना ही ठहरा।

अभ्युदयके—सांसारिक ऐश्वर्यके क्षेत्रमें वह बढ़ता जा रहा है, चढ़ता जा रहा है और साथ ही बढ़ता-चढ़ता जा रहा है उसका दुःख, उसका असंतोष, उसकी व्यग्रता। वह आज किसी शिखरपर खड़ा है तो वह अशान्तिका शिखर है। आप बाहरसे उसे कैसा भी देखें और कोई भी नाम दें, सत्य तो सत्य ही रहता है।

× × ×

(२)

आपको आश्चर्य तो होना ही ठहरा। दोनों मित्र थे। दोनों एक ही पाठशालाकी एक ही कक्षामें पढ़ते थे। दोनों साधारण स्थितिके किसानोंके पुत्र थे। दोनोंके घर एक ही गाँवमें पास-पास थे। क्या हुआ जो दोनोंके आकारमें कुछ अन्तर था, दो मनुष्योंके आकारमें अन्तर तो होता ही है। ब्रह्माबाबा तो जैसे एक साँचा दो बार काममें लेना जानते ही नहीं। लेकिन दोनोंके स्वभाव प्रायः एक-से थे। दोनों तीक्ष्णबुद्धि थे। दोनों परिश्रमी थे

और सबसे बड़ी बात तो यह कि दोनोंके स्वप्न प्राय: एक-जैसे ही थे।

'खूब बड़ा-सा ईंटोंसे बना मकान, अच्छा-सा दालान, द्वारपर नीमका पेड़, चार बड़े-बड़े बैल, दो मुर्रा भैंसें, एक गाय। दोनों कभी-कभी बैठ जाते कहीं एकान्त देखकर और अपने स्वप्नोंका विनिमय करते। दोनों मिलकर उनमें थोड़ा बहुत सुधार करते—'चार बड़े-बड़े निवारके पलंग, एक तख्ता, एक छोटी चौकी, दस-बारह मोढ़े (पुआलके बने आसन), कुछ मचिया, एक हुक्का—नहीं-नहीं एक चमकता काँसेकी बड़ी भारी नलीवाला गड़गड़ा और एक हुक्का भी। गड़गड़ेके बिना द्वारकी कहीं शोभा बनती है।'

दोनोंने अपने ग्रामके मुखियाको अपना आदर्श मान रक्खा था। बालक ही थे दोनों। मुखियाके घरमें द्वारपर उन्हें जो कुछ जैसे दीखता था, वह वैसे ही उनके स्वप्नमें सम्मिलित हो जाता था। उनके लिये मुखिया ही संसारका सर्वश्रेष्ठ पुरुष था। केवल एक बातमें थोड़ा-सा मतभेद था दोनोंमें—'द्वारपर घोड़ा रहे या हाथी।' मुखियाके द्वारपर घोड़ा था; किंतु उन्होंने हाथी देखा था। सुना था कि जिसके द्वारपर हाथी झूमे, वह बहुत बड़ा आदमी माना जाता है। लेकिन उनका मन झिझकता था—इतनी बड़ी कल्पना उन्हें करनी चाहिए या नहीं।

दोनोंमें बहुत मित्रता, बहुत एकता सही; किंतु दोनोंके प्रारब्ध तो एक थे नहीं। एकके पिता-माता उसे

छोड़कर परलोक चले गये। उसकी पढ़ाई छूट गयी। उसके घर जो कुछ था, दूसरोंने अवसर देखकर दबा लिया। उसका घरतक धीरे-धीरे खँडहर होता गया। घर छोड़कर उसे बाहर जाना पड़ा और फिर घर धरा क्या था जो वह लौटकर आता। प्रारब्धने जहाँ जैसे भटकाया, भटकता रहा।

दूसरेको ननिहालकी सम्पत्ति मिली, पढ़ाईका सुयोग मिला। अवसर अनुकूल आते गये, वह बढ़ता गया। गाँव उसने भी छोड़ दिया है। नगरके बाहर उसकी बड़ी विख्यात कोठी है। बगीचा है, मोटरें हैं, नौकरोंकी भीड़ है। अब उसे कहाँ अवकाश है कि गाँव जाय। गाँवपर उसके कोई चचेरे भाई रहते हैं। उन्होंने वहाँ पक्का मकान बनवा लिया है। अब वहाँ एक तो क्या कई गड़गड़े रहते हैं। हाथी और घोड़ा दोनों साथ रहे वहाँ और अब तो दोनोंका स्थान मोटरने ले लिया है। 'लेकिन उसे कहाँ अवकाश है यह सब जाननेका।' वह एक नन्हे-से गाँवकी बात कहाँ सोचता बैठ सकता है। वह गाँव उसे कबका भूल चुका है।

जीवनकी दिशा बदलती है, उसके स्वप्न बदलते हैं। जब घर ही नहीं रहा, घरके स्वप्नको समाप्त हो ही जाना था। वह पहले जब घर छोड़नेको विवश हुआ, स्थान-स्थानपर भटकता रहा, उसके स्वप्न छोटे होते गये। कभी बढ़े भी तो बढ़नेको आगे स्थान न देखकर संकुचित हो गये। निराशा, विफलता, प्रतिकूलताने उसे

दी—उदासीनता, दृढ़ता, तटस्थता। क्या कठिनाई आवेगी या आ सकती है, इसे सोचना अब उसे व्यर्थ जान पड़ता है। इतनी कठिनाइयाँ, इतने संकट वह झेल चुका है कि अब और क्या नया होना है। क्या सुख, क्या सुविधा मिलेगी या मिल सकती है, इसमें उसे रस रहा ही नहीं है। जब उन्हें दो दिनमें नष्ट ही होना है, वे आवें या जायँ। उसने अनुभव कर लिया है इस भटकने-भटकानेमें कि सुख-सुविधाका बने रहना भी कोई अर्थ नहीं रखता। बहुत शीघ्र उनका रस बासी पड़ जाता है। वे फीके पड़ जाते हैं।

सुख न चाहे ऐसा प्राणी हो कैसे सकता है। दुःख सभीको उद्विग्न करते हैं, सुख सभीको लुभाते हैं। लेकिन दुःख भोगते-भोगते भी एक 'टेव' पड़ जाती है। आप कह सकते हैं कि उसे 'टेव' पड़ गयी है। लेकिन बात ऐसी नहीं है। उसके मनने उससे कभी पूछा था—'ऐसा नहीं हो सकता कि कठिनाइयाँ आती रहें और हम मौजमें बने रहें। सुखका स्वाद बासी और फीका पड़ जाता है तो दुःखका स्वाद तीखा ही क्यों बना रहे। वह क्या बासी नहीं पड़ेगा ? दुःख भी बासी पड़ता है। दीर्घरोगी अपने रोगके कष्टको उतना अनुभव नहीं करता, जितना नया रोगी अनुभव करता है। जो विपत्ति-ही-विपत्ति भाग्यमें लाया हो, उसे दुःखका बासी होना जानते कितने दिन लगने थे।

वह भी अभ्युदय चाहता था। परिस्थितिने उसे विचारका स्वभाव दिया था। विचारके अतिरिक्त कुछ

करनेको था ही नहीं उसके पास। वह अपने विचारमें ही अभ्युदयका स्वप्न देखने लगा था—'दुःख यदि मनको स्पर्श ही न करे ? आनेके पहले ही वह बासी हो जाय ?' सुख बासी होकर दुःख हो जाता है, यह तो सबका नित्यका अनुभव है। 'सुख ताजा किया ही न जाय तो ?' उसे लगा कि उसने दुःखको सदाके लिए बासी बना देनेका मर्म देख लिया है।

पर्वतकी टेढ़ी-मेढ़ी, आड़ी-तिरछी शिलाएँ धाराके प्रवाहमें पड़कर बराबर हो जाती हैं, चिकनी हो जाती हैं, गोल हो जाती हैं। बहुत लुढ़कना पड़ता है उन्हें, बहुत टक्कर खानी पड़ती है। कभी कोई ग्रामीण उन्हें उठाकर यदि पीपलके नीचे या वेदीपर रख दे तो वे भगवान् शंकरकी प्रतिमा बन जाती हैं। वह कहता है—'मैं लुढ़का और टकराया, गोल तो हो चुका। सुख आवे या दुःख—दोनों मुझे छूते चले जाते हैं। मेरा अभ्युदय तो हो चुका। मन्दिरकी मूर्ति बनना कुछ मेरे बसकी बात है नहीं। जिसे जब बनाना होगा, बना देगा।'

× × ×

(३)

'तुम इसे अभ्युदय कहते हो ? इन ईंट और पत्थरोंको ? इन चाटुकारोंके समुदायको ?' वह आज अपने पुराने मित्रसे मिलने आया है। उसके मित्रकी महानता आपको स्वीकार करनी होगी। उन्होंने अपने पहरेदारोंको

नहीं कहा—'मुझे अवकाश नहीं है। कह दो, फिर कभी आवें।' उन्होंने नहीं सोचा कि एक कंगाल, अप्रख्यात साधारणतया अपठित जैसे व्यक्तिके लिये वे क्यों अपना मूल्यवान् समय नष्ट करें। वे गये स्वयं द्वारतक, उसे ले आये। उसका स्वागत किया। उसे जलपान कराया। उसके संतोषके लिये उसके साथ एकान्तमें बातें करने बैठे हैं। लेकिन वह भी अद्भुत है। वह तो ऐसे बोल रहा है, जैसे अपनी पाठशालाके उसी पुराने छात्रसे बोल रहा हो। 'सचमुच तुम्हारे पास अब कोई स्वप्न नहीं? तुम सुखी और संतुष्ट हो?'

'कहाँकी बात करते हो तुम!' उन्होंने एक लंबी श्वास ली। 'अभ्युदयकी तो बात ही दूर है। अभी तो ठिकानेसे उसका श्रीगणेश भी नहीं हुआ है। लेकिन मैं प्रयत्नमें लगा हूँ। मेरा अभ्युदय—मेरा अभ्युदय तो वह कि विश्वके लोग शताब्दियोंतक मुँहमें अँगुली दबाये रह जाया करें।'

'कुछ लोग तुम्हारे वैभवपर अब भी चकित रह जाते हैं।' उसने कहा—'चकित रहनेवाले दस हों, दस हजार हों या दस करोड़ हों। दस दिन वे चकित रहें या दस शताब्दी, बात तो वह-की वह रहेगी न?'

'तुम अब अद्भुत हो गये हो।' उन्होंने उसकी ओर हँसकर देखा।

'तुमसे अद्भुत नहीं।' वह हँसा नहीं—'तुम तो ईंट, पत्थर और मूर्खोंद्वारा की गयी प्रशंसामें अभ्युदय मान

बैठे हो। तुमने कभी सोचा है कि अभ्युदयका अर्थ होता है सुख, शान्ति और संतोष ? कितना मिला है वह तुम्हें अपने उद्योगमें ?'

'तुम्हें मिला है वह ?' उन्हें अच्छा नहीं लगा कि यह कंगाल उनका इस प्रकार परिहास करे। ये अपने उद्योग-में नितान्त विफल लोग दूसरोंका उपहास करके ही संतोष करते हैं।

'कभी तुमपर कोई संकट आया है ?' उसने उनके प्रश्नका उत्तर न देकर एक नया ही प्रश्न कर दिया।

'संकट किसपर नहीं आता।' अब उनके स्वरमें उपेक्षा मात्र थी।

'कभी तुम्हें संकटपर किसी अज्ञात शक्तिको पुकारना पड़ा है ? कभी तुम्हें लगा है कि संकट तुम्हारी बुद्धि या शक्तिसे नहीं, किसी अज्ञातके संकेतसे दूर हो गया है।' वह उपेक्षाका तो सदाका अभ्यस्त ठहरा। कोई नवीनता उसे उपेक्षामें लगी नहीं थी। वह तो अपनी बात अपने ढंगपर कहनेका अभ्यासी है।

'मैं आस्तिक हूँ। भगवान्में मेरा विश्वास है।' उन्होंने स्थिरतापूर्वक कहा।

'सो तो है, लेकिन तुमने कभी यह भी सोचा है कि जीवका अभ्युदय उस भगवान्से भी कुछ सम्बन्ध रखता है या नहीं ?' वह गम्भीर होता जा रहा था।

'मुझे धार्मिक अध्ययनका अवकाश नहीं मिलता।' उन्होंने यह कहना अपने गौरवके अनुकूल नहीं समझा कि वह इस विषयमें उनसे अधिक जानता है।

'जो विपत्तिमें अकारण हमें सहायता देता है, हमारे अभ्युदयमें उसकी सहायता हमें अपेक्षित नहीं होनी चाहिये?' वह जो कुछ कहना चाहता है, उसके निकट आता जा रहा है।

'उसकी सहायता तो हमें सदा ही अपेक्षित है।' अब सहसा उनके स्वरमें फिर स्नेह आया। बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी दुर्बल होता है। संसार तो है ही दुर्बलताका क्षेत्र। जहाँ दुर्बलता है, वहीं दैन्य है और अपेक्षा है। वे जैसे अनुरोध कर रहे हों—'तुम मेरे लिये प्रार्थना नहीं करोगे?'

'माता-पितासे प्रार्थना नहीं करनी पड़ती। शिशुका कल्याण किसमें है, यह वे स्वयं जानते हैं। शिशुके अभ्युदयमें वे उसके नित्य सहायक होते हैं। वे मना करें, उधर न जाय; वे प्रोत्साहित करें, उधर बढ़नेका प्रयत्न करे। शिशुका अभ्युदय तो उनके हाथोंमें सुरक्षित है।' अबकी बार उसने अपनी पूरी बात जैसे समाप्त कर दी। उठकर खड़ा हो गया विदा लेनेके लिये।

'अद्‌भुत पागल है।' उन्होंने रोका नहीं। उनके पास व्यर्थ नष्ट करनेको समय नहीं था। उसकी बातें सोचने-समझनेके स्थानपर अनेक योजनाएँ थीं और उनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये तत्काल उन्हें व्यस्त हो जाना

चाहिये था। उसे द्वारतक विदा करके वे अपने कार्यमें लग गये।

× × ×

दोनो मित्रोंको अपने-अपने मार्गसे जाना ठहरा। दोनोंके अभ्युदयके आदर्श भिन्न हो चुके हैं अब। दोनोंके स्वप्न, किंतु अब एकके पास तो कोई स्वप्न ही नहीं है। वह कहता है—'जो अचानक अज्ञात रहकर भी आपत्तिमें मुझे बचा लेता है, मेरा अभ्युदय उसके हाथमें सुरक्षित है। क्या है वह, मैं इस झमेलेमें नहीं पड़ता। आज या कल, मेरे पिताजीके पास जो है, वह मेरा नहीं है, ऐसा कहनेवाला ही मूर्ख है।'

पानीका प्रवाह आता है, प्रवाहमें पड़ा पत्थर कभी हिलता है, डोलता है, कभी गीला होता है, कभी तटपर पड़कर धूपमें गरम हो उठता है। वह घिसघिसकर गोल हो गया—बस। मन्दिरमें आराध्य-पीठपर उसे धरना न-धरना तो धरनेवालेकी इच्छा; किंतु अब उसे प्रवाहसे कुछ लेना नहीं, तटपर पड़ती धूपमें तपते रहनेमें कुछ बिगड़ता नहीं। वह कहता है—'मैं तो अब गोल-पत्थर हो गया।'

पानीका प्रवाह आता है, पर्वतकी बड़ी शिलापर टकराता है। शिलाका कण-कण टूटता, गिरता रहता है। घिसती, टूटती, क्षीण होती रहती है शिला। 'मैं इतने प्रवाहसे ऊपर खड़ी हूँ।' उसका यह गर्व उसे तृप्त करता हो तो भले करे। लेकिन उसकी दो ही गति है—कण-कण टूटकर रेत बन जाना, या प्रवाहमें लुढ़कर गोल

होनेके लिए अपनेको छोड़ देना। किसमें अभ्युदय है उसका ?

एकके पास स्वप्न है। स्वप्न सत्य करनेकी धुन है। सबके पास स्वप्न होते हैं। सबके स्वप्न सत्य नहीं होते। सबमें वह धुन नहीं होती। लेकिन स्वप्न सभीके पास हैं। जो जैसा है, वैसे हैं उसके स्वप्न। चोर विश्वका सर्वश्रेष्ठ चोर बनना चाहे, तपस्वी विश्वका सर्वोत्तम तपोनिष्ठ होनेका विचार करे, कवि विश्वकविकी उपाधिकी आकांक्षा करे– यह तो अब चल ही रहा है। प्रत्येक विषयमें रेकार्ड स्थापित करनेकी प्रतिद्वन्द्विता चल रही है। अभ्युदय है रेकार्ड स्थापित कर देनेमें ?'

एकके पासके स्वप्न ही समाप्त हो गये हैं। उसे न सुख-सुविधाकी बहुत लालसा है, न अभाव-आपत्तिका कोई विशेष भय। वह तो जैसे पत्थर है। जो आता हो आ जाय। उसका कहना है—'अभ्युदय तो वह जहाँ सुखका सागर उमड़-घुमड़कर चरणोंमें चुप बैठ जाय और दुःखका झंझावात फुंकार मारता-मारता सिर पटककर स्वयं थक जाय। सुख-शान्ति और सन्तोष—अभ्युदय तो इनकी पूर्णतामें है और वह पूर्णता कुछ मनुष्यके वसकी नहीं। वह तो जो नित्य पूर्ण हैं, उसके ही श्रीचरणोंमें सुरक्षित है। मनुष्य तो उन चरणोंकी ओर देखे—बस हो गया।'

आप भी तो अभ्युदय चाहते हैं ? कैसा है आपका अभ्युदय। अपने अभ्युदयके विचारोंको आप इन दोनों मित्रोंमेंसे किसके साथ रखना पसन्द करेंगे ?

अज्ञान

एक विख्यात व्यापारीने विष खाकर आत्महत्या कर ली। उनके सिरहाने एक बन्द लिफाफा पाया गया। उसमें लिखा मिला—'मुझे बहुत बड़ा घाटा हुआ है। सब हिसाब चुका देनेपर अब मेरे पास कुल दो करोड़ रुपये बच रहेंगे। मैं दरिद्र हो गया। दरिद्रताके इस जीवनसे बचनेके लिए मैं मर रहा हूँ।' समाचार-पत्रोमें बड़े मोटे अक्षरोंमें शीर्षक-उपशीर्षक देकर समाचार छपा था। पूरा नाम-पता दिया गया था। संसारकी इतनी असाधारण घटना—केवल दो करोड़ रुपये बच रहते हों जिसके पास ऐसा धनी या कङ्गाल अपनी कङ्गालीकी कल्पनासे व्यथित होकर मर गया था। समाचार-पत्रोंके कालम भरनेके लिए तथा समाचार-पत्रोंके पाठकोंके लिए यह कौतूहलप्रद समाचार था और आप इस समाचारको उत्साहप्रद भी कह सकते हैं ; क्योंकि इसे भेजनेवाले संवाददाता, छापनेवाले सम्पादक एवं पढ़नेवाले पाठकोंमेसे सबने उत्साह दिखलाया। इस समाचारसे समाजका या पाठकोंका क्या हित हुआ ? यह प्रश्न पूछना सभ्यता नहीं है। समाचार-पत्रका काम समाचार छापना है—उत्साहप्रद

समाचार। पाठक उससे हितके लिए उत्साह प्राप्त करेगा या अहितके लिए, यह ठेका उसने नहीं ले रक्खा है।

'वज्रमूर्ख था यह करोड़पति।' निरञ्जनके पास इतने पैसे नहीं हैं कि वह समाचारपत्र खरीदकर पढ़ सके। उसे व्यसन है पढ़नेका, सो एक दूकानपर जाकर पढ़ लेता है। समाचार देखकर वह स्वयं बड़बड़ाने लगा—'एक करोड़-पति, इतना उपार्जन करनेवाला, व्यवहार तथा व्यापारमें अत्यन्त चतुर और इतना मूर्ख निकला।'

'क्या मूर्खता की उसने ?' दूकान जिनकी है, वे पढ़े-लिखे सुसभ्य पुरुष हैं। मिलनसार तो हैं ही, विचारशील एवं उदार हैं। उन्होंने निरञ्जनकी ओर देखते हुए कहा - 'हम सभी ऐसी मूर्खता नित्य कर रहे हैं। हममेंसे किसे अपनी स्थितिपर सन्तोष है ? अपनी स्थिति यदि सहसा गिर जाय, हममेंसे कितने हैं, जिन्हें धक्का नहीं लगेगा ? उस व्यापारीके पास दो करोड़ बच रहे थे, आप यही सोचते हैं। एक भिखमंगेके लिए किसीकी जेबमें दो रुपये पड़े हों, यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना हमारे आपके लिए किसीके पास दो करोड़ बच रहना।'

'और वह दो रुपये जेबमें रखकर व्याकुल होनेवाला भी उतना ही मूर्ख है ?' निरञ्जन घूम पड़ा दूकानदारकी ओर।

'हम सब अपनेसे ऊपरकी ओर ही देखते हैं। हमारी अशान्तिका यही कारण है।' दूकानदारने स्वस्थचित्तसे कहा—'हम अपनेसे नीचेकी ओर देखें तो अशान्तिका

कारण कभी मिले ही नहीं। अन्ततः नन्ही-सी झोंपड़ीमें पूरे परिवारको लेकर पड़े रहनेवाले, फटे चीथड़ोंमें जीवन व्यतीत कर देनेवाले, ज्येष्ठकी दोपहरीमें सड़कपर कङ्कड़ कूटनेवाले भी तो मनुष्य ही हैं। उनका काम जैसे चलता है, हमारा वैसे चल ही नहीं सकता, ऐसी क्या विशेषता है हममें ?'

'क्या विशेषता है मुझमें ? मेरे सामने ही तो ननकू रहता है। स्त्री है, तीन बच्चे हैं और कितनी छोटी, कितनी टूटी झोंपड़ी है उसकी।' निरञ्जनके हाथसे समाचारपत्र गिर गया। 'वे स्त्री-पुरुष मजदूरी करते हैं। भला क्या मिलता होगा उन्हें ? कितने प्रसन्न रहते हैं वे। मैं भी कितना मूर्ख हूँ। मैं भी तो आज उस व्यापारीकी भाँति आत्महत्या करने जा रहा था। मेरी जेबमें अब भी दो रुपये हैं और......।' उसके नेत्र भर आये। उसके तो आगे-पीछे कोई है नहीं। इतने बड़े संसारमें जब इतने मनुष्य जीवित हैं, वही क्यों बहुत अधिक सुविधा चाहता है ? क्यों उसका जीवन सादगीसे नहीं चल सकता। वह अध्यापकी कर लेगा और इतना पर्याप्त है उसके लिए।

'वह व्यापारी इसलिए मूर्ख नहीं था कि रुपयेकी चिन्तासे वह मर गया।' दूकानदारने कहा—'उसकी मूर्खता यही थी कि इतना अधिक धन एकत्र करनेमें वह लगा रहा। इतने धनकी चिन्ता लिए वह इतने दिन जीवित रहा। ऐसा धन, जिसका कोई उपयोग नहीं था

उसके लिए और जिसके पीछे वह ठिकानेसे सो भी नहीं सकता था।'

'उसके भोजनालयमें तो टेलीफोन था ही, शयनागार तथा शौचालयमें भी टेलीफोन लगे थे। वहाँ भी वह शान्तिसे खाना, बैठना या सोना नहीं चाहता था—चाह नहीं सकता था।' समाचारपत्रमें मृत व्यक्तिके विषयमें बहुत कुछ छपा है और उसे निरञ्जन पढ़ चुका है। 'डाक्टरोंने उसे केवल शाकके रसपर रहनेकी सलाह दी थी ओर कई वर्षोंसे वह दूसरा कोई भोजन कर नहीं सका था।'

'हम सभी एक-से हैं। हम सबके मनको व्यर्थ-निष्प्रयोजन कार्य प्रलुब्ध करते हैं और हम सदा उन्हें पूर्ण करनेके प्रयत्नमें रहते हैं। अवसर न मिले और हम उन्हें पूर्ण न कर सकें, यह दूसरी बात है।' दूकानदार गम्भीरतासे कह रहे थे—'हम सबको पेट भरनेको थोड़ा-सा अन्न चाहिए और बैठने-सोनेको थोड़ी-सी छाया। लेकिन हममेंसे कितने हैं जो बहुत बड़ी रकम एकत्र करना नहीं चाहते ! कौन नहीं सोचता कि उसका घर भी विशाल एवं भव्य बने।'

'ओह, यदि हम इस प्रकार सोचने लगें—कितनी चिन्ताएँ घट जायँ। कितनी शान्ति मिले मनुष्यको।' निरञ्जनने मस्तक झुका लिया। 'क्यों मनुष्य सोचता नहीं ! पूरे कुएँमें ही भाँग क्यों पड़ी है ?'

'इसलिए कि हम सब मूर्ख हैं !' दूकानदार खुलकर हँस पड़े।

'सब-के-सब मूर्ख !' निरञ्जन चौंका और आप भी चौंकेंगे। जो व्यक्ति सारे संसारको—एक ओरसे वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री आदि बड़े-बड़े सभी विद्वानोंको मूर्ख कहे, उसका सिर ठिकाने है, ऐसा माननेको क्या आपका चित्त चाहेगा ? आप नहीं सोचते कि उसे अपने मस्तिष्कका कहीं परीक्षण कराना चाहिए ? लेकिन निरञ्जन आज इन बातोंको उड़ा देनेकी मनःस्थितिमें नहीं है। उसका मस्तिष्क इतना व्यापक भी नहीं कि चाहे जितना वह सुनता जाय। उसके दोनों कानोंके छिद्र ब्रह्माजीने ठीक सीधमें नहीं बनाये। एक कानसे सुनी बात दूसरेसे फुर्र-से निकल नहीं पाती, कुछ गलेसे नीचे-ऊपर हो जाती है। आज जो उसने सुना है, उसे मस्तिष्कमें ठिकानेसे जमा देने या फिर वहांसे निकाल बाहर करनेके लिए उसे अवकाश चाहिए।

× × ×

'मैं दर्शन करने जा रहा हूँ।' निरञ्जन नियमसे यहाँ मन्दिरमें दर्शन करने जाता है। आज उसका मन समाचारपत्र पढ़नेमें नहीं लगा, अतः शीघ्र उठ खड़ा हुआ।

'आप दो मिनट रुकें तो मैं भी चलता हूँ।' दूकानदारको दूकान बन्द करनेका अवकाश चाहिए। दूकानपर

दूसरा कोई नौकर तो है नहीं, कहीं जाना हो तो ताला बन्द करके ही जाना पड़ता है।

'आप ऐसे ही चलेंगे?' ये महोदय बड़े विचित्र प्राणी हैं। जो धोती पहन रक्खी है, उसीका एक छोर कंधेपर डाले ये दूकानमें दिनभर डटे रहते हैं। अब मन्दिर जाते समय भी गलेमें एक कुर्ता डाल लेना इनको आवश्यक नहीं प्रतीत होता।

'इस गरमीमें इतना क्या पर्याप्त नहीं है?' हँस पड़े वे। 'कुछ पहन लेनेसे मुझे तो कोई सुख मिलेगा नहीं और दूसरे क्या कहेंगे, यह केवल धोखा है। क्या हम आप यह देखते चलते हैं कि किसके शरीरपर कैसे वस्त्र हैं और किसका वेश कैसा है?'

'हम कहाँ देखते हैं कि किसके वस्त्र मैले हैं, किसके उज्ज्वल हैं। किसके कपड़े फटे हैं और किसके कपड़ोंपर धब्बे हैं। किसका जूता चमकता है और किसके जूतेमें टुकड़े जुड़े हैं। किसकी दाढ़ी घुटी है और किसकी चिकनी है।' निरञ्जन सोचने लगा—'घरसे चलते समय हम अपने वस्त्र, जूते आदि कितना देखते हैं। शीशेमें कितनी बार मुख देखते और केश ठीक करते हैं। दाढ़ीपर किस प्रकार हाथ फेरते हैं। हमें लगता है कि सारा बाजार हमें और हमारे वस्त्रादिको ही देखेगा। जब कि हम दूसरोंकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते।'

'बहुत गन्दा या बहुत उत्तम वेश दृष्टि खींचता है।' दूकानदारने चलते-चलते कहा—'हम असाधारणताकी

ओर आकर्षित होते हैं ; किंतु इससे हानि-लाभ क्या ? किसीने हमको देखा तो और न देखा तो। कोई हमारे विषयमें क्या सोचता है, इससे हमें क्या हानि-लाभ। हम दूसरोंके देखने या सोचनेकी चिन्तासे कितने अधिक व्यस्त बनते हैं ? कितने व्यग्र होते हैं इसके लिए और क्या अर्थ है इसका ?'

'ऐसे तो हम बहुत-से काम व्यर्थ ही करते हैं।' निरञ्जनने कहा।

'प्राय: अधिकांश काम व्यर्थ करते हैं।' दूकानदारने और स्पष्ट किया—'और उन व्यर्थ कामोंके लिए चिन्तित रहते हैं, क्लेश उठाते हैं तथा अनेक बार उन्हें करके हानि भी उठाते हैं। इतनेपर भी जान-बूझकर हम उन्हें करते हैं।'

'जान-बूझकर हानिप्रद कर्म कोई क्यों करेगा ?' निरञ्जनने शङ्का की।

'सब जानते हैं कि परस्त्रीकी ओर कुभावसे देखना पाप है और इससे मानसिक तथा कुछ अंशोंमें शारीरिक हानि भी होती है। इस देखनेसे किसी प्रकारका कोई लाभ नहीं होता। दूकानदार सहज भावमें कह रहे थे— 'ऐसे और भी बहुतसे कार्य हैं। गर्मियोंमें शरीरपर वस्त्रों-का भार लादे रहना क्या लाभ पहुँचाता है किसीको ?'

'फैशन' निरञ्जन कहते-कहते रुक गया। उसे स्वयं लगता है कि मूर्खताका ही दूसरा नाम कदाचित् 'फैशन' है और कितने मजेकी बात है कि इसे सभ्यताका चिह्न

माना जाता है। फैशनके नामपर पार्टियोंमें अल्लम-गल्लम भोजन, अस्त-व्यस्त वार्तालाप, असङ्गत चेष्टाएँ—क्लब-जीवन तथा सुसभ्य पार्टियोंके बहुत अधिक संस्मरण हैं उसके पास। स्वास्थ्य एवं चरित्र दोनोंकी बलिके अतिरिक्त और क्या मिलता है उसमें ?

'शिक्षा बढ़ रही है, सभ्यता बढ़ रही है, समाज प्रगति कर रहा है।' निरञ्जनने दूसरे प्रकारसे सोचना चाहा। समाजके उर्वर-मस्तिष्क मनुष्यके इस अज्ञानको भी मिटावेंगे ही, ऐसी सम्भावना थी उसके स्वरमें।

'साथ-साथ मूर्खता भी बढ़ रही है, यह कह देनेसे वर्णन पूरा हो जाता है।' दूकानदारके स्वरमें व्यङ्ग नहीं, खेद था। 'समाज आज प्रगति तो कर रहा है; किंतु वह प्रगति है प्रकाशसे अन्धकारकी ओर। ज्ञानसे अज्ञानकी ओर हमारी गति तीव्र होती जा रही है। हम मूर्खसे वज्रमूर्ख बनते जा रहे हैं।'

'आप पूरे विद्वद्वर्गको मूर्ख कह रहे हैं।' निरञ्जनने चेतावनी दी।

'विश्वके उच्चतम मस्तिष्क आज इस प्रयत्नमें लगे हैं कि ऐसे साधन प्राप्त किये जायँ जिनसे कम-से-कम समय और व्ययमें अधिक-से-अधिक प्राणियोंका संहार सम्भव हो।' दूकानदारको कुछ अधिक नहीं कहना था। उन्होंने कहा—'मुझे उनकी प्रतिभा एवं विद्यामें कोई सन्देह नहीं है; किंतु वह प्रतिभा प्रकाशमें दौड़ रही है

या अन्धकारमें भटकती जा रही है, यह भी क्या तर्कसे सिद्ध करना होगा ?'

'विज्ञानका चरम लक्ष्य समाजकी सेवा है।' निरञ्जनने पुस्तकोंमें रटे शब्द दुहराये।

'अर्थात् आवश्यकताकी वृद्धि करना!' दूकानदार शान्त बने रहे। 'अनावश्यक पदार्थोंकी वृद्धि और उनके संग्रहकी प्रवृत्ति मनुष्यमें उत्पन्न करना। मनुष्यके जीवन एवं मनमें अशान्ति तथा अस्थिरताको बढ़ाना।'

'आपकी विचार-शैली ही विचित्र है!' निरञ्जनकी बात ही सम्भवतः आप भी कहेंगे।

'शैलीका आग्रह कहाँ करता हूँ मैं। मैं तो विचारका आग्रह करता हूँ। हम क्या कर रहे हैं? क्यों कर रहे हैं? क्या परिणाम प्राप्त होगा इससे? वह परिणाम न हो तो क्या बिगड़ जाय? इन बातोंको हम विचार लिया करें—बस, इतनेसे ही सारी उलझनें सुलझ जायँ।' दूकानदारने कहा—'लेकिन हम विचार नहीं करना चाहते। विचार करनेकी बात भी सुनना नहीं चाहते और फिर भी हम विद्वान् हैं, बुद्धिमान् हैं—पता नहीं क्या-क्या हैं!'

'सब लोग एक ओरसे बुद्धू हैं!' निरञ्जन मुँहमें ही बुदबुदाकर रह गया। अब मन्दिर आ गया है। मन्दिरके भीतर कोई भी बातचीत न करनेका नियम बना लिया है

उसने। भगवान्‌के इस दिव्यपीठके सम्मुख वह अपनेको एकाग्र रखना चाहता है।

× × ×

ये दूकानदार महोदय भी अद्भुत प्राणी हैं। पिताकी आज्ञासे एम्० ए० पास करनेके पश्चात् इन्होंने वकालत पढ़ी और जब वकालत करनेका समय आया तो कहने लगे—'यह तो धूर्त बनानेकी विद्या है।' पिताकी मृत्युके पश्चात् घरमें जो कुछ था, उससे जोड़-बटोरकर यह कागज, कापी, स्लेट, पेन्सिल आदि 'स्टेशनरी' की दूकान कर ली इन्होंने। अभी युद्धकालके पिछले वर्षोंमें जब दूसरे दूकानदार इधर-उधरसे माल एकत्र करने और बिक्री बन्द रखनेमें व्यस्त थे, जबकि वस्तुओंके दाम इस प्रकार बढ़ते जा रहे थे कि बेचनेकी अपेक्षा बचानेमें ही बहुत लाभ था, इनकी दूकानपर भीड़ लगी रहती थी।

'इस पेन्सिलका बाजारमें ६ पैसे भाव हो गया है और आप जबतक खरीदने जायँगे सात पैसे भी हो सकता है!' एक हितैषीने एक बार सावधान करना चाहा। ऐसे अकारण कृपालु बहुत मिलते हैं। बिना पूछे ऐसी शुभ सम्मति प्राप्त होती ही रहती है।

'मैंने इसे चार पैसेके भावमें खरीदा था। अब पाँचके भावसे बेच रहा हूँ।' बड़ी निश्चिन्ततासे इन्होंने उत्तर दिया—'यदि आगे सातके भावसे खरीदना पड़ा तो आठके भाव बेचूँगा।'

'अभी तो महँगीके दिन हैं। आप चाहे जैसा कर सकते हैं।' कहनेवालेने व्यङ्ग्य किया—'जब मन्दीके दिन आयेंगे कोई ग्राहक नहीं सुनेगा कि आपने सात पैसेके भाव खरीदा है।'

'मैं जानता हूँ कि मन्दी आवेगी एक दिन और यह भी जानता हूँ कि जनता कृतज्ञ नहीं हुआ करती ; किंतु मैं किसीसे कृतज्ञता कहाँ चाहता हूँ। मैं अपना कर्तव्य पालन करता हूँ, किसीपर उपकार तो करता नहीं।' इनका ऐसे अवसरोंपर बँधा उत्तर है—'सस्ती आवे या महँगी, मेरा प्रारब्ध तो जो है, वही रहेगा।' आप जानते ही हैं कि ऐसे दूकानदारकी दूकानमें बहुत माल भरा नहीं रह सकता। जब मन्दी आयी—दूसरोंके लिए ही वह आयी। इन्होंने तो जैसे उसका कभी अनुभव किया ही नहीं।

ऐसे विचित्र प्राणीको निरञ्जन उस दिन प्रस्तुत कर सका किसी प्रकार अपने यहाँ भोजन करनेके लिए। 'मिर्च नहीं, खटाई नहीं, यह नहीं, वह नहीं—अनेक सूचनाएँ' निमन्त्रण स्वीकार करनेके साथ दी इन्होंने।

'मना करनेपर भी आपने परस दिया! इसे छोड़ना पड़ रहा है, क्षमा करेंगे।' बड़ी नम्रतासे कह रहे थे। भोजन करानेवालोंका स्वभाव अभ्यागतको हठपूर्वक अधिक खिलानेका होता है। निरञ्जनने भी ऐसा ही किया था, किंतु इन्होंने तो उसमेंसे ग्रास ही नहीं तोड़ा। 'मैं इसे हठपूर्वक पेटमें पहुँचा तो सकता हूँ, लेकिन ऐसा

करनेसे पेट और पदार्थ दोनों खराब होंगे। पदार्थ बाहर रह गया तो किसी पशु-पक्षीके तो काम आ ही जायगा।'

'आप स्वादको कोई महत्त्व नहीं देते ?' निरञ्जनने भोजनके पश्चात् पूछा।

'बहुत महत्त्व देता हूँ।' हँस पड़े वे। इसीलिए मूर्खता करके उसे नष्ट नहीं कर देना चाहता।'

'स्वाद लेनेमें भी विचारकी आवश्यकता होती है।' निरञ्जनको लगता है कि अत्यधिक दार्शनिकताने इन बेचारेको अजीब बना डाला है।

'पदार्थका स्वाद तबतक, जबतक वह गलेसे नीचे न उतर जाय। लेकिन यदि अविचारपूर्वक कोई स्वाद लेने लगे तो पेट खराब हो जायगा और स्वाद लेना सर्वथा बन्द हो जायगा।' उस व्यापारीको शाकके रसपर रहना पड़ता था, यह स्मरण दिलाकर वे बोले—'यही दशा प्रत्येक इन्द्रियके स्वादकी है। जिसका अविचारपूर्वक सेवन होगा, उसीकी स्वादशक्ति नष्ट हो जायगी।'

'एक महन्तजीको इत्रका अत्यधिक व्यसन था।' निरञ्जनने बताया—'वे काले कपड़े पहनते थे पर्याप्त इत्र मलनेकी सुविधाके लिए ; किंतु उनकी नासिकाने अन्तमें गन्ध ग्रहण करना ही छोड़ दिया।'

'ऐसे लोग अब भी हैं, जिन्होंने कामुकतावश अधिक विवाह किये अथवा अनाचारका आश्रय लिया। उनकी क्या गति होती है, जानते हो ?' पूछा उन्होंने।

'वे प्रायः नपुंसक हो जाते हैं और ओषधियोंके पीछे पड़कर अपना पूरा स्वास्थ्य नष्ट कर लेते हैं।' निरञ्जन स्वयं इस विषयमें कठोर संयमका पक्षपाती है और मित्रोंको भी संयमके लिए प्रेरित किया करता है।

'इन्द्रिय कोई भी हो, उसके विषयका अत्यधिक सेवन उसे असमर्थ बना देता है।' उन्होंने अपने मूल विषयपर आते हुए कहा—'समाजकी विषयोन्मुख प्रवृत्ति विचारपूर्वक नहीं है। विषय-सुखकी वृद्धि और उसके अधिकाधिक सेवनकी लोलुपता मूर्खता है। आज पूरा समाज इस मूर्खतासे ग्रस्त है, जिसका परिणाम रोग, शोक, अशान्ति एवं विनाशके अतिरिक्त और कुछ नहीं।'

'पूरा समाज मूर्ख!' यह बात गलेसे नीचे नहीं उतरती। निरञ्जन यहाँ पहुँचकर झुँझला उठता है। अब अतिथिको भी अपनी दूकान जानेकी शीघ्रता है। ताम्बूल तो उन्हें चाहिए नहीं, दो दाने इलायची और···

× × ×

'आप सबको मूर्ख क्यों कहते हैं?' निरञ्जन आज उनकी दूकानपर जमकर बैठ गया है। जब इनकी बातें बुद्धिपूर्वक होती हैं तो भूल कहीं इनके तर्कमें है या अपनी झल्लाहटमें, इसे आज वह समझ लेना चाहता है।

'आप क्या समझते हैं कि सब लोग ज्ञानी हैं?' वे हँसे। उन्हें पता है कि निरञ्जन क्यों झल्लाता है और इस झँझलाहटमें बचपन कहाँ छिपा है।

'नहीं तो।' चौंका वह—'ज्ञानी संत तो संसारमें बहुत थोड़े होते हैं।'

'सामान्य मनुष्य अज्ञानी हैं।' उन्होंने केवल व्याख्या की—'चाहे वे कितने भी बड़े विद्वान् या लोकनेता क्यों न हों।'

'यह संसार ही अज्ञानजन्य है।' निरञ्जनने पुस्तकीय भाषा प्रयुक्त की—'इसलिए संसारके व्यवहार अज्ञान-प्रवृत्त हैं और संसारी पुरुष अज्ञानी हैं, इसमें तो कोई सन्देह है नहीं।'

'अज्ञानका ही दूसरा नाम मूर्खता है!' वे हँस रहे थे—'हमलोग पुस्तकीय भाषाको बोलते हुए भी उसको समझना नहीं चाहते—समझते नहीं, यही हमारी कठिनाईका कारण है।'

'अज्ञानका क्या अर्थ करते हैं आप?' निरञ्जनको एक अद्भुत प्रकाश प्राप्त हुआ। 'वह दर्शन-शास्त्रका छात्र रह चुका है और इतनी साधारण बात आजतक उसकी समझमें नहीं आयी!'

'अज्ञानका अर्थ है विचारहीनता, मूर्खता, न जानना या ऐसा ही जो कोई और नाम तुम दे सको।' उन्होंने कहा—'अज्ञान कोई ऐसा हौआ नहीं है, जो समाधि लगाने या किसी असाधारण स्थितिमें पहुँचनेसे दूर होता हो। वह तो मूर्खता है हमारी और उसे विचार करनेका स्वभाव अपनाकर दूर किया जा सकता है।'

'शास्त्र कहते हैं कि यह संसार अज्ञानजन्य है !' निरञ्जनकी शङ्का अनेक हृदयोंमें उठ सकती है।

'संसारके अधिकांश व्यवहार इसीलिए चल रहे हैं कि उनके करनेवाले मूर्ख हैं। वे विचार नहीं करते अपने कार्यके विषयमें।' बड़ी स्थिरतासे उन्होंने कहा—'आप देखते ही हैं कि विषय-प्रवृत्ति हानिकर है और आँख मूँदकर सभी उसी ओर दौड़ रहे हैं। यदि लोग अपने कार्योंके विषयमें विचार करने लगें तो क्या रूप रहेगा संसारका ?'

'इतने बड़े-बड़े विद्वान्, विचारशील और सब अविवेकी !' निरञ्जन चिन्तनकी गहराईसे बोल रहा था—'क्यों ऐसा होता है ?'

'आपके प्रश्नका अर्थ है कि अज्ञानका स्वरूप क्या है और कारण क्या है ?' वे फिर हँसे—'अरे भाई ! विचार-से जिसका पता लगे, स्वरूप-बोध हो, वह अज्ञान नहीं हुआ करता। जिसका कोई युक्तिसंगत कारण नहीं, विचार करनेपर जो नहीं टिकता, वही तो अज्ञान है।'

'आप ज्ञानी हैं ?' निरञ्जनके नेत्रोंमें उल्लास आया। वह कितना भाग्यवान् है कि एक छिपे हुए ज्ञानी महापुरुषसे उसका परिचय है।

'नहीं भाई !' उन्होंने दृढ़ स्वरमें कहा—'मैं भी मूर्ख ही हूँ। विचार करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि शरीरके सुख-दुःख, मान-अपमान और एक लकड़ी या पत्थरके

खम्भेके सुख-दुःख, मान-अपमान एक-जैसे ही हैं। शरीर भी जड़ है। इतनेपर भी शरीरके सुख-दुःख, मानापमान आदिका मुझे पूरा अनुभव होता है और सुख तथा मानकी प्राप्ति तथा दुःख एवं अपमानसे बचनेके लिए मैं प्रयत्न करता रहता हूँ। विचारके विपरीत आचरण करनेवाले ही तो मूर्ख कहे जाते हैं?'

'तो ज्ञानी क्या कोई काम करता ही नहीं?'

'ज्ञानी काम करता है या नहीं करता, यह तो ज्ञानी जाने।' उन्होंने दूसरे ढङ्गसे उत्तर दिया—लेकिन कोई विचारशील न तो दूसरेके कामको अपना मानेगा और न धूपमें पड़े पत्थरके गरम होनेसे तापका अनुभव करके हाय-हाय करेगा। हवा चलती है, पेड़के पत्ते हिलते हैं, टहनियाँ टूटती हैं, कोई पत्ते हिलने और टहनियोंके टूटनेसे हँसे या रोवे तो उसे आप क्या कहेंगे? वृक्षकी भाँति, बाहर पड़े पत्थरकी भाँति यह शरीर और इन्द्रियों-के साथ मन भी जड़ है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर जड़ हैं। इनके दुःखसे संतप्त होना, इनके सुखके लिए व्यस्त रहना, इनके कार्योंको अपना कार्य मानना ही तो अज्ञान है।'

निरञ्जनको गीताका एक श्लोक स्मरण आया—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

और तब उसे फिर स्मरण आया—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।

उसने पूछा—'यह अज्ञान कैसे दूर हो ?'

'मनुष्य सदा सावधान रहे । विचारशील रहे । अपनेको मूर्ख न बनावे ।' उन्होंने कहा—'जो कुछ भी करना है, उसके विषयमें पूरा-पूरा विचार करे । विचार न करना या अधूरा विचार करना ही मूर्खता है—अज्ञान है । अज्ञान तो ज्ञानसे-विचारसे ही दूर होता है ।'

विचारसे अज्ञान दूर होता है । हम आपमेंसे कोई भी क्या अपनेको विचारहीन समझता है ? लेकिन क्या हम सचमुच विचार करना प्रारम्भ करना चाहते हैं ?

परीक्षा

वे थे तो संन्यासी विरक्त महात्मा, पर मुझपर उनका बड़ा स्नेह रहता था। पुत्रकी भाँति वे मुझसे प्रेम करते। उनकी उस जीर्ण कुटियाकी एक-एक वस्तु मैं आते ही उलट-पुलट करने लगता। उसमें था भी क्या? कुछ कौपीनके टुकड़े और दो-चार पुस्तकें। मुझे पुस्तकोंसे विशेष स्नेह था।

पहले इन महात्माजीको जब देखा तभी उनके तेजोमय प्रसन्न मुखमण्डल तथा वैराग्यके वाह्य चिह्नोंसे आकर्पित हो गया। शरीरपर उनके एक कौपीन एवं करोंमें मिट्टीका कमण्डलु। कुटियामें भी कोई ऐसी वस्तु न थी, जिसे संग्रह कहा जा सके।

बालकोंका-सा सरल स्वभाव था। बोलते-बोलते हँसते रहते थे। कभी उनके मुखपर क्रोध या उदासीनताके चिह्न दीख ही नहीं पड़े। दोपहरमें अपना कमण्डलु लेकर भिक्षाको जाते। कुछ घरोंसे मधुकरी करके ले आते। मधुकरीके अन्नको पुण्यसलिला जाह्नवीमें धोकर पा लिया। बस, यही एक समय उनका भोजन था।

आसपासके लोगोंकी उनपर अपार श्रद्धा थी। सभी लोग उनकी सेवा करनेको प्रस्तुत रहते थे। लेकिन उनकी सेवा ही क्या थी। किसीको भी वे कुछ करनेका अवसर ही न देते। कुटियामें भी जब कोई झाड़ू लगाने लगता तो मना कर देते।

कोई भी आवे, कुछ भी पूछे, महात्माजी उसे आत्म-संयम तथा भजन करनेका ही उपदेश देते। अपनी अपूर्व प्रतिभासे वे किसी भी चर्चाको पारमार्थिक बना लेते। उनके यहाँ कभी सांसारिक बातचीत चल ही नहीं सकती थी। उन्हें पता भी नहीं रहता था कि मेरी कुटियाके पासकी बस्तीमें क्या होता है।

समीप रहनेके कारण तथा स्नेह पाकर मैं कुछ ढीठ हो गया था। उस दिन महात्माजी मनके संयमपर मुझे समझा रहे थे। मैंने बीचमें रोककर कहा—'मनका संयम तो तब समझा जाय जब प्रसङ्ग आनेपर भी वह संयत रहे। जो जङ्गलमें मनुष्योंसे दूर रहता है, उसमें भला काम-क्रोध आवेंगे किस प्रसङ्गसे? संयमी तो वह है जो इनके प्रसङ्गोंके मध्यमें रहता हुआ भी निर्विकार रहता है।'

महात्माजी तनिक गम्भीर हो गये। कुछ सोचकर उन्होंने कहा—'तुम कहते तो ठीक हो, मैं अपने मनका विश्वास करता हूँ। आजतक अपने इसी विश्वासपर मैं निश्चिन्त था। अब तुम्हारी बातसे परीक्षा आवश्यक हो

गयी। देखना है कि प्रसङ्ग आनेपर मैं स्थिर रह सकता हूँ या नहीं ?'

मैंने तनिक हँसकर कहा—'परीक्षा कैसे होगी ? क्या मैं भी उस समय रह सकूँगा ?' महात्माजीकी वह नित्य प्रसन्नमुद्रा गम्भीर हो चुकी थी। वे वैसे ही बोले, 'सोच रहा हूँ, परीक्षा कैसे हो। तुम रह सकोगे उस समय।'

मैं महात्माजीको प्रणाम करके लौट आया। कई दिन हो गए, पर महात्माजीकी वह गम्भीरता दूर न हुई। मन-ही-मन मुझे अपने शब्दोंके लिए खेद हो रहा था। एक महापुरुषके जीवनमें मैंने चिन्ताका अनजानमें प्रवेश कराकर घोर अपराध किया।

बहुत साहस करके मैंने कहा, 'महाराजजी ! आजकल पता नहीं क्यों आप इतने गम्भीर रहते हैं। क्या आप-लोगोंको भी कुछ चिन्ता होती है ?' उत्तर मिला—'चिन्ता तो कोई नहीं, पर मनकी परीक्षाका उपाय सोच रहा हूँ। एक बार परीक्षा करके देखना चाहता हूँ।'

वर्षाके दिन थे, घटाएँ घिरी हुई थीं। बीच-बीचमें बूँदें भी पड़ रही थीं। एक अपरिचित यात्री महात्माजी-की कुटीमें आया। शहरमें उसका कोई भी परिचित नहीं था। सन्ध्या हो चुकी थी, उसे रात्रि-विश्रामके लिए स्थान नहीं मिला था। उसने महात्माजीसे कुटियामें ही रात्रि व्यतीत करनेकी आज्ञा चाही।

बहुत आग्रह करनेपर भी महात्माजीने मुझे कभी कुटियामें नहीं रहने दिया था। वे रात्रिको किसीको वहाँ

नहीं रखते थे। पर आज उन्होंने उस यात्रीको अनुमति दे दी। मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ। वह आदमी कुछ विचित्र-सा लगता था। उसके पास अंग्रेजी ढङ्गके वस्त्र तथा पण्डिताऊ पगड़ी दोनों थीं।

मैं प्रणाम करके चलने लगा तो महाराजजी कुटियासे मेरे साथ बाहरतक आये। उन्होंने बाहर आकर कहा, 'यदि तुम्हें मेरे मनकी परीक्षा देखनी हो तो आज रात्रिको यहीं सो रहो। भोजन करके चले आना।' कुटियाके बाहर एक स्त्री खड़ी थी। यह उसी यात्रीके साथ थी। मैंने कुतूहलवश रात्रिको वहाँ आना स्वीकार कर लिया।

भोजन करके मैं महात्माजीकी कुटियापर पहुँचा। वे दोनों यात्री स्त्री-पुरुष कुटियामें थे और महात्माजी मुझे द्वारके पास ही मिले। वे या तो कहीं बाहर गये थे, या मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मैं शीघ्र ही लौट आया था।

कुटियाके भीतर एक छोटा-सा स्थान कोठरीकी भाँति बना था। उसपर एक पट लटकाकर महात्माजीने उसे ध्यान-पूजाके योग्य बना लिया था। उसमें बाहरसे जानेका भी एक मार्ग था। मार्ग तो क्या था, वहाँसे दीवार टूट गयी थी। उसी मार्गसे उस स्थानमें जाकर मुझे रात्रि-जागरणकी आज्ञा हुई।

महात्माजीने यात्रीसे कहा, 'तुम भोजन बना सको तो बनाओ। मेरी प्रतीक्षा मत करना, कुटी बन्द करके सो रहना।' उसी टूटी दीवारके मार्गसे वे भी मेरे पास

आकर बैठ रहे। भोजन बनानेकी सामग्री यात्रीके पास थी, वह पहलेसे ही चावल, दाल प्रभृति अपने बक्ससे निकाल रहा था। हम अबतक भी कुछ न समझ सके कि क्यों वह स्त्री उस यात्रीके कार्योंमें सहयोग नहीं दे रही है।

कुछ लकड़ियाँ कुटीमें पड़ी थीं। वर्षाकी गीली लकड़ियाँ सहसा क्यों जलने लगीं? इधर-उधर कुटीमें ढूँढ़कर वह यात्री पुस्तकें उठा लाया। वह उन्हें फाड़कर जलाने लगा। मैंने महात्माजीकी ओर देखा। एक क्षणके लिए उनके चेहरेपर कुछ रोषकी झलक आयी, पर दूसरे ही क्षण उन्होंने मुखपर अँगुली रखकर मुझे चुप रहनेका आदेश दिया।

भोजन बना, यात्रीने भोजन किया। स्त्री चुपचाप एक ओर बैठी रही। उसने भोजन करना अस्वीकार कर दिया। भोजन करके उसने कुटियाका द्वार बन्द कर दिया। अपने ट्रंकसे बिछानेके लिए वस्त्र निकालकर उसने बिस्तर लगाया। उसके लैम्पके प्रकाशमें हम सब कुछ देख रहे थे।

अब उसने स्त्रीके साथ बलात्कार करनेकी चेष्टा की। वह रो रही थी, छीना-झपटीमें उसके वस्त्र फट गये। वह नग्नप्राय हो गयी। हमें उन दोनोंकी बातचीतसे पता चल गया कि यह इस व्यक्तिके भाईकी स्त्री है। इसे यह तीर्थयात्रा कराने ले आया है।

महात्माजी मेरा हाथ पकड़कर रोक रहे थे। मैंने उनसे हाथ छुड़ाकर दो-तीन ईंटें फेंकीं। एक ईंटके लगने-

से लैम्प फूट गया। हमें ऐसा लगा कि अन्धेरेमें वह स्त्री द्वार खोलकर कहीं बाहर चली गयी। यह पूर्ण निश्चय भी तत्काल हो गया, क्योंकि पीछे वह पुरुष उसे खोजने तथा पुकारने लगा।

मैं सो गया था। मुझे पता नहीं कि रात्रिको क्या हुआ। प्रात:काल उठते ही मैंने अपने पास या कुटीमें महात्माजीको नहीं देखा। उस समय मुझे घर आना था। सीधे घर आकर मैं नित्यकर्मसे निवृत्त हुआ। दोपहरके पश्चात् भोजनादि करके महात्माजीकी कुटीपर पहुँचा।

कुटीमें वह रातको बना हुआ ईंटोंका चूल्हा, राख, जूंठे बर्तन तथा टूटा लैम्प ज्यों-का-त्यों पड़ा था। महात्माजी ध्यानमग्न अपने आसनपर बैठे थे। मैंने उन्हें प्रणाम किया। कुटिया स्वच्छ करने चला तो उन्होंने रोक दिया। उनके संकेतसे मैं पास ही बैठ गया।

महात्माजी बोले, 'देखो परीक्षा तो हो गयी। मैं परीक्षामें उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण दोनों ही रहा। पुस्तकें फाड़कर जब वह जलाने लगा तब मुझे दुःख हुआ और क्रोध भी आया। जब मैं तुम्हें उत्तेजित होनेसे रोक रहा था तो उस नग्न दृश्यके प्रति कुछ आकर्षण था ही। सबसे बड़ी बात तो यह कि इस समय चित्तमें शान्ति नहीं है। वही बातें चित्तमें घूम रही हैं। यह चञ्चलता और अशान्ति ही इसका प्रमाण है कि मन विकृत हो गया था। तुम्हारी उपस्थिति तथा भगवान्की दयासे मैं बच गया।'

मैं चुपचाप सुन रहा था। महात्माजी कुछ रुककर बोले, 'देखो मैं तुम्हें अपना निश्चय बताता हूँ। इसे कभी भूलना मत। कोई भी मनको पूर्णतया वशमें नहीं कर सकता। मन कब धोखा दे देगा, इसका कुछ पता नहीं। जान-बूझकर ऐसे प्रसङ्गोंको उपस्थित करना, जिसमें मनके विकृत होनेका भय हो, अपने पैरोंमें आप ही कुल्हाड़ी मारना है। जितेन्द्रियपनेका गर्व करके कभी भी ऐसी भूल नहीं करनी चाहिये। यही बहुत है कि संसारसे दूर रहकर विकारोंसे बचे रहा जाय। भगवान् ही चाहें तो अकस्मात् उपस्थित हुए प्रसङ्गोंपर विकारोंसे रक्षा कर सकते हैं। निरभिमान होकर सदा उन्हींकी शरणमें रहना और संसारसे दूर रहना, यही सुरक्षित पथ है।'

मुझे पता लगा कि उस स्त्रीने पुलिसको सूचना दे दी और पुलिसने उस यात्रीको बन्दी कर लिया है। यह बात बतलानेके उद्देश्यसे मैं सन्ध्याके समय पुनः महात्माजीकी कुटीपर गया। कुटिया सूनी थी। महात्माजी कहीं चले गए थे। बहुत देरतक प्रतीक्षा करके फिर मैं लौट आया। मुझे फिर वहाँ महात्माजीके दर्शन नहीं हुए।

कई वर्ष बाद मैं अयोध्या गया। सरयूसे स्नान करके लौट रहा था, तो बस्तीके किनारेवाले खँड़हरसे एक पागल निकला। वह ईंटें उठाकर अपने पास आनेवालोंकी ओर फेंक रहा था। मुझे ऐसा लगा कि यह पागल तो वही महात्माजी हैं।

लोगोंने कहा, 'आप उसके पास न जावें। वह पत्थर फेंककर मारता है।' डर तो मुझे भी लग रहा था, पर साहस करके मैं आगे बढ़ा। मुझे देखते ही वह पागल खँड़हरमें घुस गया। निकट जानेपर संकेतसे उन्होंने मुझे बुलाया।

खँड़हर चिथड़ोंसे भर रहा था। इन चिथड़ोंको यही पागल देवता उठा लाये थे। सचमुच वे मेरे वही पूर्व-परिचित महात्माजी थे। मुझे आज्ञा मिली 'पानी पिला।' सरयूजीसे लाया हुआ जल मैंने उन्हें पिलाया। फिर बोले 'अच्छा, भाग जा यहाँसे, मुझे मनुष्योंसे भय लगता है।' मैंने हठ करके उनकी शान्तिमें बाधा देना ठीक नहीं समझा। प्रणाम करके चला आया।

द्वार खोलो !

'अरे सतीश, बोल तो भाई !' अनेक बार पुकारने, किवाड़ोंको हिलाने और कुंडी खटखटानेपर भी कोई शब्द भीतर सुनायी नहीं पड़ रहा था।

'बाबू !' धर्मशालाके चौकीदारने घबराहटसे रमाकान्तकी ओर देखा। यदि कोई दुर्घटना हुई तो पुलिस उसे तङ्ग करेगी। 'अभी सवेरे तो नलपर देखा था इन बाबूको। बढ़ई सामने रहता है, बुला लाता हूँ !' यदि यात्री इस प्रकार चिल्लाने और द्वार पीटनेपर भी न बोले तो बढ़ईसे किवाड़ खुलवानेके अतिरिक्त उपाय क्या रहता है।

'और कोई उसके पास आया था क्या ?' आशङ्का सहज थी ?

'एक छोटा-सा कुत्ता है—बस !' चौकीदारने बताया। 'वह इनके साथ ही रहता है। दूसरा कोई इन सात दिनोंमें यहाँ इनके पास आया हो, ऐसा मुझे नहीं लगा। कहीं बाहर भी जाते मैंने नहीं देखा। केवल सामनेकी दूकानसे कुछ पूड़ियाँ ले आते हैं और बन्द हो जाते हैं

इसी कमरेमें। बड़े दुखी जान पड़ते हैं।' बिखरे बाल, अस्त-व्यस्त वस्त्र, सूखा-सा मुख, चौकीदार जब इस स्वस्थ सुन्दर युवकको देखता, उसके मनमें सहानुभूति जाग्रत् हो जाती। किसी बड़े घरका लड़का है, वह कुछ पूछता यदि उसे तनिक भी आशा होती कि युवक उत्तर देगा, पर वह तो कमरेसे निकलता ही कम है। निकलता है तो जैसे किसीकी ओर न देखनेका नियम कर लिया हो।

'हीरा!' रमाकान्त द्वारकी पतली सन्धिपर नेत्र लगाकर भीतर देखनेका प्रयत्न कर रहा था। उसका ध्यान चौकीदारकी ओर नहीं था।

'वह जाग रहा है! कुत्तेको उसने पकड़ रक्खा है।' भीतर अपना नाम सुनकर कुत्ता कूँ-कूँ करने लगा था। वह द्वारके पास नहीं आ सका, इसका कारण समझना कठिन नहीं था। 'तुम एक पतला तार ले आओ!' धीरे-से चौकीदारको उसने समझाया।

'उमा एक ऐसा ही पिल्ला ले आया है।' रमाकान्तने द्वार खोल लिया तारसे। 'इससे कुछ अधिक झबरा। अब तुम दो कुत्तोंको सोते-सोते पकड़े नहीं रख सकोगे।'

'मेरे लिए एक ही बहुत है।' कुछ अप्रसन्नताके स्वरमें सतीश बोल रहा था। उसे इस प्रकार किसीका आना बहुत अरुचिकर हुआ था—अपने मित्रका आना भी। 'मैंने नियम पढ़ लिए हैं। आज धर्मशाला खाली कर दूंगा। तुम्हें कहना नहीं पड़ेगा।' चौकीदारकी ओर देखा उसने।

'उसमें सात दिनकी बात लिखी तो है।' चौकीदार संकुचित हुआ। उसके मनमें भी यह बात नहीं आयी थी। 'लेकिन खाली ही पड़ी है न सब धर्मशाला। कौन आता है यहाँ। आप कमरा छोड़ें, इसकी क्या जल्दी है।' यहाँ इतनी दूर कोनेकी धर्मशालामें कदाचित् ही कोई यात्री आता है। चौकीदारके लिए तो सूनी धर्मशाला सायँ-सायँ करती है। कोई रहे तो कुछ तो जनशून्यता कम रहेगी।

'जल्दी तो मुझे है!' सतीशने कहा और मुँह फेर लिया। चौकीदार धीरेसे कमरेसे निकल गया। 'तुमने द्वार खोल दिया, यह हीरा भी मेरे पाससे भाग जाना चाहता है।' कुत्तेको उसने एक प्रकारसे दबा रक्खा था। बेचारा पिल्ला—वह कूँ-कूँ करता और अपनेको छुड़ा लेनेके प्रयत्नमें था।

'उसे छोड़ दो, सम्भव है उसे शौचकी आवश्यकता हो या वह केवल मेरे पास आना चाहता हो। वह शीघ्र तुम्हारे पास लौट आवेगा।' रमाकान्तने पासके आलेपर कुछ देखा। वह उधर ही बढ़ा। 'मुझे कई दिनोंसे तुम्हारी आवश्यकता है। बड़ी कठिनतासे तुम्हें पा सका हूँ। केवल कुछ समयके लिए मेरे साथ चलो।'

'तुम इसे ले जा सकते हो। या फिर यह जहन्नुम जाय।' कुत्तेको उसने फेंक दिया और झपटकर आलेसे छोटी नारङ्गी रङ्गको शीशी उठा ली। 'मुझे क्षमा करो! मैं कहीं नहीं जाऊँगा।'

'मैं तुम्हें रोकूँगा नहीं। अपनी शीशीका उपयोग तुम जैसे अभी कर सकते हो, वैसे ही सायङ्काल भी।' जिस शीशीको सतीशने उठाया था, उसपर लगे लेबिलपर लाल स्याहीसे कुछ छपा है। 'विष' होना चाहिए उसे। परीक्षामें अनुत्तीर्ण, माता-पितासे तिरस्कृत छात्र और क्या करेगा। 'तुम जानते हो कि मेरा छोटा भाई केवल तुम्हें मानता है। उसकी आँखें दुखनेको आयी हैं और यह किसीको कोई ओषधि लगाने नहीं देता।' रमाकान्तने एक बात निकाल ली।

'मैं डाक्टर नहीं हूँ, वह चाहे जो करे' पर उसे वह छोटा बच्चा स्मरण आया। हँसता, खेलता सुन्दर-सा लड़का। उसकी आँखें दुखनेको आयी हैं। दोनों हाथोंसे नेत्रोंको मलकर और भी पीड़ा बढ़ा लेता होगा। रोता होगा। हुआ करे—उसे क्या। वह तो मरनेवाला है। संसारमें उसका कोई नहीं। 'मैं कुछ कर नहीं सकता।' उसने कठोरतासे ओष्ठ दबा लिए।

'तुम ऐसा कैसे कर सकते हो। विद्यालयमें किसीकी तनिक-सी चोट, जरा-सा सिर-दर्द तुम सह नहीं सकते थे। तुम्हारा अधिकांश व्यय ओषधियोंपर होता है। वह बच्चा तुम्हें प्रिय है।' रमाकान्तने तनिक भी ध्यान उपेक्षापर नहीं दिया। 'चलो उठो! एक बार उसे देख लो। यदि कुछ न करनेकी इच्छा तुम्हारी होगी तो मैं स्वयं यहाँ या जहाँ कहोगे तुमको पहुँचा दूंगा। उसने हाथ पकड़ा और मस्तकको सहारा दिया।

'महा असभ्य और उजड्ड है यह।' मन-ही-मन झल्लाया वह। उठकर बैठ गया और घूरने लगा। ऐसे व्यक्तिसे झगड़ना भी आज उसके मनके विपरीत था।

'तुम्हारी चप्पलें सुन्दर हैं। जूता आवश्यक नहीं। मैं नीचे रिक्शा छोड़ आया हूँ।' रमाकान्तने चप्पलें सम्मुख खिसका दीं और हाथ पकड़कर उठा दिया उसे। 'बालोंमें आज बिना कंघी किये भी चलेगा।' दोनों कमरेसे बाहर हुए। द्वार बन्द कर दिया गया और फिर जैसे उनका परस्पर कोई परिचय न हो। चुपचाप दोनों रिक्शेपर बैठ गए।

धर्मशालाका चौकीदार एक बार ध्यानसे उनकी ओर देखता रहा। उसे नवीन आगन्तुककी सफलतापर प्रसन्नता हुई। 'अवश्य जब दोनों लौटेंगे, वे प्रसन्न होंगे।' मन-ही-मन उसने कहा—'मैं उनके लिए एक कमरा और स्वच्छ कर लूँगा तबतक और वे यहाँ एक महीने आनन्दसे रहें तो अच्छा ही है।' गर्मियोंमें पढ़नेवाले सम्पन्न घरोंके लड़के घूमनेकी छुट्टी पाते हैं, इतना उसे पता है।

× × ×

[२]

'हम जानते ही थे कि तू कुछ पढ़ता-लिखता नहीं है।' पिताने समाचारपत्र उसके सम्मुख फेंक दिया। उसमें परीक्षाके उत्तीर्ण छात्रोंके नम्बर निकले हैं। वह

स्वयं देख चुका है कि उसका नम्बर नहीं। 'इधर-उधर मटरगश्तीसे तो पास हुआ नहीं जा सकता।'

'मैं पहले कहती थी न कि इसके लिए रुपये नष्ट न करो।' विमाता पता नहीं क्यों उससे सदा रुष्ट रहती हैं। छोटा था तभी जननी परलोक चली गयीं। एक बार पिताका स्नेह मिला, पर जैसे ही विमाता आयीं, वे भी खिंचे-से रहने लगे। आज सबको उसपर झल्लाहट है। वह कभी घरमें किसीसे खुलकर नहीं बोलता। अवकाशमें भी किसी मित्रके यहाँ ही समय काट लिया करता है। आज तो बोलेगा ही क्या। 'यह आवारा और मूर्ख है, यह बात मैंने तुमसे कितनी बार कही।' विमाताकी बात ठीक ही होगी। मूर्ख न होता तो श्रम करके भी अनुत्तीर्ण क्यों होता। वह अपनी चिन्तामें डूबता ही गया।

'तुम्हें श्रम करना चाहिए था' किसी प्रकार घरसे दृष्टि बचाकर निकल सका तो मार्गमें पण्डितजी मिल गये। सहानुभूति प्रकट करते हुए उन्होंने कहा 'स्थूल-बुद्धि लड़के भी पर्याप्त श्रमसे सफल होते हैं। पिताका ध्यान तो करना ही चाहिए तुमको।'

'वह स्थूलबुद्धि है, श्रम नहीं करता' सब यही तो कहते हैं। तब यही बात ठीक होगी। विमाता बराबर कहती हैं—'वह मूर्ख है, आवारा है, घमण्डी है।' कालेज-के अध्यापक और सहपाठी भी उसे चिढ़ाते ही हैं। 'वह अब पढ़े भी तो सफल नहीं होगा। उसकी किसीको क्या आवश्यकता है। कोई उसे नहीं चाहता। व्यर्थ है उसका

जीवन।' मनुष्योंसे दूर हो जाना चाहता था वह। कोई ऐसा स्थान, जहाँ वह चुपचाप रो सके।

नगरके एक कोनेमें वह धर्मशाला आज उसे स्मरण हुई। किसी दिन वह हँसा था उसके निर्मातापर। 'कितना भोंदू होगा यहाँ इसे बनवानेवाला। भला यहाँ कौन आवेगा।' उसने अपने एक साथी मित्रसे कहा था। प्रत्येक तीन वर्षोंपर जब पुरुषोत्तम मासमें यात्री पञ्च-क्रोशीके लिए निकलते हैं, धर्मशाला उनके लिए कितनी उपयोगी है, यह उसे कौन बतावे ; किंतु आज वही धर्मशाला उसे आश्रय प्रतीत हुई।

हीरा—उसका छोटा कुत्ता, पता नहीं कैसे घरसे उसके साथ हो गया। एक दरी उसे खरीदनी पड़ी थी और एक लोटा। जब मरना ही है तो सुविधासे, एकान्त देखकर व्यवस्था करनी चाहिए। अनेक योजनाएँ आयीं मनमें ; सबमें कुछ-न-कुछ आशङ्का थी। धर्मशालामें कमरा बन्द रहेगा। विषको गलेसे नीचे उतारकर सो रहेगा वह। कुत्ता—पहले उसने उसे भगा देना चाहा।

'यह रहेगा तो पिताजीको सूचना मिल जायगी। विमाताको सन्तोष हो जायगा।' कुत्तेके गलेके पट्टेपर उसने चाकूकी नोकसे घरका नाम-पता कुरेद लिया।

'कोई मुझे ढूंढ़ने न निकला होगा।' धर्मशालाके कमरेमें उसे पता नहीं क्या-क्या सूझता है। 'किसीको मेरे लिए क्यों चिन्ता होगी?' उसने शीशीकी ओर देखा—'एक नींद ले लूँ और फिर·········।' आज जेब

खाली हो गयी थी। अब भूख लगे, ऐसी स्थिति ही क्यों आयेगी।

'आज सात दिन हो गये। चौकीदार कमरा खाली करनेको कहने आया है।' कोई द्वार खटखटा रहा था। 'यह तो रमाकान्त है। होने दो, मैं अब नहीं उठूँगा। किसीसे अब नहीं मिलना है। दुष्ट कहींका, आज सात दिनपर आया है। पीटने दो द्वार!' कुत्ता भी बोलने लगा था। उसे उसने पकड़ लिया। यह मूक पशु भी दूसरेसे स्नेह करे, आज उसे यह सह्य नहीं।

× × ×

[३]

'मैं दवा नहीं डालूँगा। मेरी आँख ठीक नहीं होगी।' वह पाँच वर्षका बालक गोदमें छटपटा रहा था। अपना सिर और हाथ हिलाता तथा रोता जाता था।

'तुम अच्छे लड़के हो! तुम्हारी आँखें अच्छी हो जायँगी!' सतीशने बच्चेको गोदमें ले लिया था। बच्चे-को देखते ही उसकी उदासीनता कम हो गयी थी।

'इतनी बार तो दवा लगायी!' बालकके स्वरमें झल्लाहट घट रही थी।

'मैं अच्छी दवा डालूँगा!' उसने पुचकारा। किसी प्रकार दवा डाली जा सकी।

'तुम जाओ मत ! मैं तुम्हारे साथ चलूँगा !' लड़का दोनों हाथ उसके गलेमें लपेटकर चिपक गया था। वह नेत्र खोल नहीं पाता था।

'मैं कहीं नहीं जाता हूँ !' आश्वासन देना आवश्यक था।

'तुम स्नान करो ! भोजनका समय हो चुका है !' रमाकान्तने धोती और तौलिया स्नानघरमें रखनेके पश्चात् कहा। 'अब आज तो दूसरी बार दवा तुम्हें ही लगानी है !'

'गलेसे लिपटा यह बालक, उसका यह मित्र और बालकके माता-पिता, सभी उससे स्नेह करते हैं। सभी उसका सत्कार करना चाहते हैं। क्या यह सत्कार सच्चा नहीं है ?' वह चुपचाप मित्रके मुखकी ओर देखता रहा। बच्चेको पृथक् करना सरल नहीं था; परन्तु समझा-बुझाकर स्नान भी करना ही था।

'तुम कितने निपुण हो !' मित्रने भोजन करते समय उससे कहा 'कितने पीड़ितोंका परित्राण करनेमें तुम समर्थ हो सकते हो यदि साहस करो ! आज ऐसे ही युवकोंकी जनसेवक-संस्थाको आवश्यकता है !' यह निश्चितप्राय था कि सतीश अब आगे पढ़ नहीं सकेगा। उसके पिता आर्थिक सहायता देनेको तत्पर न होंगे। स्वयं रमाकान्तकी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं कि वह इसका भार वहन कर सके।

'महीनोंके पश्चात् आज मैं प्रसन्न हूँ !' सतीशने मित्रको ओर देखा। 'तुम्हारी योजनापर विचार करनेको जी चाहता है !'

'माधवके नेत्र अच्छे होनेतक विचार करनेका पूरा समय है तुम्हारे पास।' रमाकान्त हँसते हुए बोले—

'अपने कमरेको चाभी मुझे दे दो ! मैं उसे खोल आऊँगा ! तुम्हारी नयी दरी मुझे पसन्द है। उस मनहूस शीशीको जिसे तुम दरीके नीचे छिपा आये हो, अब तुम पा नहीं सकते !'

'आवश्यकता हुई तो दूकानोंमें वह फिर मिल जायगी !' सतीश हँस पड़ा। 'मैं सायङ्काल फिर आ जाऊँगा और शीशी तुम्हें दे दूँगा।' वह कैसे बराबर कई दिनों यहीं टिके रहनेका निमन्त्रण स्वीकार कर ले !

'तुम माधवको अधिक रुलाना पसन्द नहीं कर सकते !' रमाकान्तका आग्रह सकारण था। 'चाभी मुझे दो ! मैं तुम्हारी दरीके लिए झगड़ूंगा नहीं !' सतीश भी समझता है कि अब उसके लिए धर्मशाला जाना आवश्यक नहीं।

× × ×

[४]

'पिताजीने मुझे बुलाया है !' सतीशको आश्चर्य था कि स्वयं विमाता उसे लेने आयी थीं। वह अपने मित्रसे

विदा हो रहा था। 'उनका आग्रह है कि मैं पुनः परीक्षा-में बैठूं।'

'तुम घर जाओ!' रमाकान्तने उसे समझाया। 'पिताजीको तुम्हें सन्तुष्ट करना ही चाहिये!'

'वे इस प्रकार कभी मुझे पत्र न लिखते!' स्वयं सतीशको बार-बार इधर घरका स्मरण हुआ है।

'तुमने कभी, उनको या माताजीको प्रसन्न करनेका प्रयत्न भी किया?'

'कदाचित् कभी नहीं!' अब उसे स्मरण आ रहा है, जब यह नवीन माताजी आयी थीं। उन्होंने उसे गोदमें लेकर पुचकारा था। भाग गया था वह। बराबर वह मातासे पृथक् रहता था। पितासे भी पता नहीं क्यों उसे चिढ़ हो गयी थी। धीरे-धीरे वह उनकी अवज्ञा करने लगा था।

'लेकिन मैं घरसे चला गया और किसीने मेरी कोई खोज-खबर नहीं ली!' सतीशको यही बात सबसे अधिक खटकती है। जितना शारीरिक कष्ट उसे उन सात दिनोंमें मिला है, उससे कहीं अधिक मानसिक कष्ट भोगता रहा वह।

'तुमने स्वयं द्वार बन्द कर लिए और चाहते हो कि लोग तुम्हारे पास आवें!' रमाकान्तने संकेतसे समझाया। पता लगानेका कोई सूत्र सतीशने छोड़ा ही कहाँ था। यदि अचानक उनके नौकरने घरसे कामपर आते समय उसे धर्मशालामें जाते न देख लिया होता!

'रमा बेटा ! तू अब इसे छुट्टी दे दे !' सतीशकी विमाता ऊपर आ गयी थीं। 'सतीश, चल भैया ! अब हम कुछ न कहेंगे ! तू माता-पितासे इतना अप्रसन्न हो जायगा यह तो हमने कभी सोचा ही नहीं था। तेरी इच्छा हो तो फिर परीक्षा देना, न हो तो कोई बात नहीं !' जैसे सतीश छोटा बच्चा ही हो अभी। वे उसके सिरपर पीछे खड़ी होकर हाथ फेर रही थीं।

'यह पिताको प्रसन्न नहीं करेगा तो जगत्पिता इसपर प्रसन्न रहें, ऐसी आशा ही कैसे कर सकता है।' सतीश इधर धर्मके प्रति आस्था खो बैठा है। रमाकान्तको यह बात बहुत खटकती है।

'तू अपनी तोतारटन्त रहने दे !' सतीशने कृत्रिम रोष दिखाया।

'तुम दोनों लड़ो मत !' माता तो माता ही है 'अभी तो घर चलो !' उन्होंने दोनों मित्रोंको आमन्त्रित किया !

'चलो मैं तुम्हें पहुँचा आऊँ !' रमाकान्त उठे। 'तुमने पिताके लिए धर्मशाला पहुँचनेका मार्ग बन्द कर दिया था और परम पिताके लिए हृदयका द्वार अबतक बन्द कर रक्खा है !' जैसे कोई चेतावनी दी जा रही हो।

'पिताका द्वार पुत्रके लिए सदा खुला रहता है !' रमाकान्तकी माता आ रही थीं ! उन्होंने ही कहा था।

'बहिन, मैं रमाको लिए जा रही हूँ ! सतीशकी माताने अनुमति ली।

'मैं धर्मशालाके कमरेका द्वार वन्द करके बैठने तो जा नहीं रहा हूँ ।' हँसकर रमाकान्तने सबको हँसा दिया ।

× × ×

[५]

'यह सब कबतक समाप्त होगा !' अखण्ड कीर्तन-भवनको देखकर सतीशचन्द्रजीने एक ही प्रश्न पूछा था । कहीं कथा, कहीं कीर्तन, कहीं पाठ । एकान्त शान्त झोपड़ियोंमें सीधे सरल साधक मौन रहते हैं, साधारण भोजन करते हैं, जप, पाठ, पूजामें ही उनका समय व्यतीत होता है । भवनके व्यवस्थापकने इतने प्रसिद्ध नेताके आगमनपर हर्ष प्रकट किया । उनका स्वागत हुआ । सब स्थान उन्हें दिखाये गये । पूरी व्यवस्था समझायी गयी । 'यहाँके लोग हैं तो अच्छे, पर व्यर्थ समय नष्ट करते है । समाजकी सेवामें लगें तो देशका कुछ लाभ भी हो ।'

'जीवनमें शान्ति न हो तो समाजको शान्ति दी नहीं जा सकती !' व्यवस्थापक अपने अतिथिसे विवाद नहीं करना चाहते थे । सतीशने उनके प्रतिवादपर ध्यान नहीं दिया ।

'जीवनमें शान्ति?' वहाँसे आनेपर भी उसके मनमें यह वाक्य बरावर खटकता है । उसने लोगोंके लिये कष्ट उठाया, जेल गया, पीटा गया और अनेक यातनाओंके पश्चात् अब उसे नेतृत्व प्राप्त हुआ । अधिकार मिला उसे । अब लोग उसकी समालोचना करते हैं । उसे स्वेच्छाचारी

बताया जाता है। उसके पक्षमें बहुमतको अल्पमतमें बदलनेका प्रयत्न करते हैं लोग। कहाँतक वह लोगोंके लिए ही कष्ट सहे। वह भी मनुष्य है, उसकी भी सुविधा है, उसे भी सुख चाहिये।

'सुख—सुख कहाँ है?' कितना अशान्त, कितना चिन्तित रहना पड़ता है उसे। पहले लोग उसे चाहते थे, उससे प्रेम करते थे। अब लोग उसके विरोधी होने लगे हैं। 'शान्ति—ईश्वर?' पर ईश्वर होता तो क्या वह उस परीक्षामें अनुत्तीर्ण हो गया होता। कितनी प्रार्थना की थी उसने। कितना रोया था। हनुमानजीको लड्डू चढ़ाये, शङ्करजीको दूध चढ़ाया, पाठ किये और जप किया। सब व्यर्थ—वह उत्तीर्ण नहीं हुआ। 'यह पूजा-पाठ कुछ नहीं। कोई ईश्वर नहीं!' एक प्रतिक्रिया उठ खड़ी हुई उसी दिन उसके मनमें।

'यदि उस समय उत्तीर्ण हो गया होता? आज किसी-के यहाँ नौकरी करता!' आज उसे अपनी स्थितिपर सहसा आश्चर्य हुआ। इस उच्चपदको पानेमें उसका अनुत्तीर्ण होना और पिताके आग्रहपर भी फिर परीक्षा न देना कारण हुआ। उसी असफलताने तो सेवा-मार्गमें प्रवृत्त किया। 'क्या भगवान् हैं?' आज फिर उसका हृदय पूछ रहा है। 'मेरी वह प्रार्थना सुनी गयी थी? मेरी पूजा स्वीकृत हुई थी?' उसे लगता है, उस अज्ञात शक्तिने उसे कितना बड़ा बरदान दिया। 'मैं मूर्ख हूँ! मैं कृतघ्न हूँ!'

'कहाँ हैं भगवान् ?' पर उसका हृदय आज बदल गया है। 'भगवान् कहाँ नहीं हैं ?' स्वयं अपने व्याख्यानोंमें वह यही तो बार-बार कहता है। 'किनपर शासन करता है वह ? किनपर अधिकार प्रकट करता है ?'

'पिताका द्वार पुत्रके लिए सदा खुला रहता है !' रमाकान्तकी माताके शब्द उसे स्मरण आते हैं और स्मरण आते हैं रमाकान्तके शब्द—'परमपिताके लिए द्वार खोलो ! तुम अपने कुत्तेके भागनेके डरसे द्वार बन्द करोगे तो मित्र आवेंगे कैसे ? हृदयके द्वार खोलो ! सेवा, स्नेह दो दूसरोंको ! प्रभुके लिए उन्मुक्त करो उसे ! आनन्द और शान्ति उसमें तभी आवेंगे !'

'मैंने द्वार बंद कर दिया अधिकार लेकर !' वह सोचता है 'दुःख, अशान्ति धर्मशालाके बन्द कमरेमें भी तो मुझे मिले थे ! द्वार खोलना है। जगत्पिता ! तू मेरे हृदयमें आ और मुझे अपनी मङ्गल शान्तिमें आने दे !' देशका एक उच्च नेता इस प्रकार रो सकता है, यह उसका निजी मन्त्री आश्चर्यसे देखता रहा ; किंतु आज उसे किसीकी चिन्ता नहीं थी। द्वार उन्मुक्त हो गया था और शीतल वायुकी भाँति सुखद अनुभूति वहाँ व्याप्त हो रही थी।

मुझे कोई पुकारता है

'मुझे कोई कष्ट नहीं है, कोई भय नहीं है, कोई रोग भी नहीं है।' किसी चिकित्सकके पास, चाहे वह मनोवैज्ञानिक चिकित्सक ही क्यों न हो, ऐसा व्यक्ति कदाचित् ही आया होगा। 'मुझे केवल जानना है। मनोविज्ञानका एक अन्वेषक होनेके कारण मैं आपसे सहायता पानेकी आशा करता हूँ।'

'आप भी मनोवैज्ञानिक हैं ?' चिकित्सकमें आदरका भाव आ गया। पहिले वे इस प्रकार मिले थे, जैसे अपने किसी नवीन रोगीसे मिलते हैं। परन्तु अब तो स्थिति बदल गयी थी। उनके सामने उनके समान ही मनोविज्ञानका एक ज्ञाता था—उनका सहव्यवसायी न सही; किंतु उनका मित्र तो वह अपनेको कह ही सकता था। नम्रतासे डा० उपाध्याय बोले—'मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?'

'मैं मनोवैज्ञानिक तो नहीं हूँ; किंतु मनोविज्ञानका विद्यार्थी अवश्य अपनेको मानता हूँ।' उसने बताया—'मैंने पाश्चात्त्य मनोविज्ञानके अतिरिक्त भारतीय मनो-

विज्ञानका भी कुछ अध्ययन किया है और मुझे तो भारतीय मनोविज्ञान अधिक पूर्ण लगता है। परन्तु इस समय तो मैं एक दूसरे विषयमें आपकी सम्मति और सहायता चाहता हूँ।'

'हम सभी विद्यार्थी हैं।' डा० उपाध्याय ठीक कह रहे हैं। विज्ञान विषय ऐसा है कि बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक आजीवन उसका नन्हा छात्र ही रहता है।

'मुझे कोई पुकारता है—जब मैं गाढ़ निद्रामें होता हूँ तो कोई मेरा नाम लेकर स्पष्ट मुझे पुकारता है।' उसने बतलाया—'सदा वह मुझे केवल दो बार पुकारता हैं, उत्तरकी ओरसे लगभग बीस-पचीस फीट दूरसे पुकारता है।'

'आपको स्मरण है, आप उस समय कैसे स्वप्न देखते हैं!' डा० उपाध्यायने पूछा।

'मैं कोई स्वप्न नहीं देखता महोदय!' वह हँसा-'आप मेरी पूरी बात सुन लें, यह अच्छा होगा। यह अन्तर्मनका कार्य नहीं है। मैंने इस विषयमें बहुत सोचा है।'

'अच्छा!' डाक्टरका स्वर स्पष्ट कह रहा था कि उनसे जो कुछ कहा जा रहा है, उसपर वे पूरा विश्वास नहीं करते। वे माननेको प्रस्तुत नहीं कि यह अन्तर्मनका कार्य नहीं है।

'मैं वैसे भी बहुत कम स्वप्न देखता हूँ। परन्तु यह पुकार प्राय: तब आती है, जब मैं गाढ़-निद्रामें होता हूँ। उसने विवरण दिया—'मुझे अच्छी निद्रा आती है। इतनी गाढ़ी नींद सोता हूँ कि सिरके पास ढोल बजता रहे तो भी मेरी निद्रामें बाधा नहीं पड़ती। आवश्यकता पड़नेपर मुझे पुकारकर जगानेवाले पुकारते-पुकारते प्राय: झल्ला उठते हैं।'

डाक्टर कुछ बोले नहीं! वे चुपचाप सुन रहे थे। अवश्य ही अपने सदाके अभ्यासके अनुसार उनके हाथमें पेन्सिल थी और मेजपर पड़े कागजपर वे कुछ शव्द नोट कर लेते थे वीच-वीचमें।

'मुझे स्वयं आश्चर्य है, जव यह पुकार आती है, मेरी गाढ़ी निद्रा पहिली ही पुकारमें टूट जाती है। उसने वताया 'परन्तु नेत्र खोलने या सिर उठानेसे पूर्व ही दूसरी बार पुकार आती है। दूसरी बारका पुकारना मैं सदा जागकर पूरी सावधानीमें सुनता हूँ।'

'जब आप उठते हैं, आपको कैसा लगता है?' डाक्टरने वीचमें पूछा।

'अच्छी निद्रासे उठनेपर एक स्वस्थ व्यक्तिको जैसी स्फूर्ति तथा ताजगीका अनुभव होता है।' डाक्टरकी आशाके सर्वथा विपरीत उसने बताया—'मुझे उस पुकार-से उठनेपर न कभी भय लगा, न आलस्य जान पड़ा। मन प्रसन्न रहता है, शरीरमें स्फूर्ति रहती है, जैसे मैं जगाया नहीं गया हूँ, निद्रा पूरी होनेपर स्वयं उठा हूँ।'

'दुबारा नींद आनेमें कितना समय लगता है?' डाक्टरने फिर पूछा।

'यह सर्वदा मेरी इच्छापर रहा है।' उसने फिर डाक्टरकी आशाके विपरीत उत्तर दिया—'कभी मैं लघुशंकादि कर दस-पंद्रह मिनट बाद सोता हूँ, कभी केवल सिर उठाकर देखकर एक मिनट बाद सो जाता हूँ और कभी तो नेत्र भी नहीं खोलता; क्योंकि अभ्यस्त होनेसे यह बात तुरन्त मनमें आ जाती है कि यह वही पुकार है। नेत्र बंद करके सो जानेका प्रयत्न करते ही निद्रा आ जाती है—पहलेकी भाँति स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा।'

'समस्या टेढ़ी है।' डाक्टरने गम्भीरतासे कहा—'मैं पूरा इतिहास सुनना चाहता हूँ।'

'मैं लगभग पाँच वर्षका होऊँगा जब पहली बार यह पुकार मुझे सुनायी पड़ी' उसने बतलाना प्रारम्भ किया—'ग्राममें अपने घरके बाहर सो रहा था। मेरे द्वारपर चहारदीवारीसे घिरी पर्याप्त भूमि थी। पिताजीके साथ उनके पलंगसे लगी मेरी छोटी खाट थी। सामने २०-२५ फीट दूर उत्तरकी ओर दूसरे मकानकी पिछली दीवार पड़ती है, जिसमें कोई खिड़की नहीं। गाँवोंके लोग घरोंकी पिछली, बाहरी दीवारोंमें खिड़कियाँ नहीं बनाते। चोरीसे रक्षाके लिये यह पद्धति ठीक ही है। रात्रिके तीसरे प्रहरमें सामनेके मकानकी दीवारसे सटकर जैसे किसीने मुझे पुकारा।'

डाक्टर उपाध्याय चुपचाप सुनते रहे और नोट करते रहे। 'स्पष्ट स्वरमें केवल मेरा नाम लेकर पुकारा गया। मेरे नेत्र खोलनेसे पहले दूसरी बार मेरा नाम लिया गया। मैं उठ बैठा। पिताजीको जगाकर मैंने बताया। उन्होंने केवल आश्वासन दिया कि 'डरनेकी कोई बात नहीं।' परंतु भय तो मेरे मनमें उस समय तनिक भी नहीं था। वैसे मैं बचपनमें अँधेरेमें जाते बहुत डरता था; किंतु उस पुकारसे जगनेपर मुझे कभी भय नहीं लगा।'

डाक्टर इस प्रकार देख रहे थे जैसे अभी और कुछ सुनना चाहते हों। वह कहता गया—'पहली पुकारपर मैं प्रायः 'क्या है? कौन है?' आदि बोल पड़ता था। परंतु धीरे-धीरे अभ्यस्त हो जानेके कारण अब तो केवल 'हूँ' या 'जी' कहकर रह जाता हूँ। पुकारका वह स्वर मुझे कभी नहीं भूलेगा। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि वह नारीका कण्ठस्वर नहीं है। परंतु पुरुषका कण्ठस्वर गम्भीर और कोमल भी होता है—यह उस पुकारके अतिरिक्त मैं सोच ही नहीं सकता। वैसा स्वर कभी कहीं सुननेको मिलेगा, ऐसी आशा नहीं।'

× × ×

(२)

'आपके कुलमें किसीको सोते-सोते चलनेका रोग रहा है?' डाक्टर उपाध्यायने बहुत देर मस्तक झुकाकर सोचा और तब यह अद्भुत प्रश्न किया।

'रहा है' उसने बताया—'मेरे पिताजी बतलाते थे कि पहले किसी समय कुछ महीनोंतक उनकी यह अवस्था रही कि पलंगपर सोते थे और सवेरे उठनेपर देखते थे कि गायोंके सामने घास-भूसा डालनेकी चरनी (लम्बे कच्चे हौदे) में लेटे हैं ?'

'यह रोग कैसे दूर हुआ ?' डाक्टरने पूछा।

'पिताजी तो इसे रोग मानते ही नहीं थे। वे भगवती दुर्गाके उपासक थे और मानते थे कि देवीका ही यह कोई चमत्कार है।' उसने निःसंकोच बतलाया—'उनका रोग जैसे अकस्मात् प्रारम्भ हुआ था, वैसे ही अकस्मात् अपने आप चला भी गया और दुबारा फिर कभी नहीं लौटा।'

'आप जानते हैं कि मनोविज्ञान भूत-प्रेत तथा देव-चमत्कारोंमें विश्वास करके नहीं चलता।' डाक्टरने उसकी ओर देखा।

'मैं भी सोचता हूँ कि किसी प्रकार निर्णायक मन उनका स्वप्नावस्थामें जाग्रत् हो जाता था।' उसने कहा।

'आपकी बात मैं ठीक समझ नहीं सका।' डाक्टरने बाधा दी।

'पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मनके दो भाग करते हैं—बहिर्मन और अन्तर्मन। परन्तु भारतीय मनोवैज्ञानिक चार भाग मानते हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।' उसने अपनी व्याख्या सुनायी—'जाग्रत् अवस्थामें हम

सङ्कल्प करते हैं और उसके अनुसार कार्य करें या न करें, यह निर्णय भी करते हैं। पाश्चात्त्य मनोविज्ञान इन दोनों-को ही बहिर्मनका कार्य मानता है; किंतु भारतीय मानते हैं कि सङ्कल्प करना मनका कार्य है और निर्णय करना बुद्धिका। इस बुद्धिका ही नाम आधुनिक मनो-विज्ञानके शब्दोंसे मेल बैठानेके लिये मैंने 'निर्णायक मन' रख लिया है।'

डाक्टरको अभी कुछ बोलना नहीं था। वह कहता गया—'अन्तर्मनको भारतीय चित्त कहते हैं। उसकी व्याख्या और कार्यकी मान्यतामें कोई मतभेद नहीं। वह संस्कारात्मक—स्मृतियोंका कोषागार है। स्वप्नके समय वही कार्य करता है। परन्तु उसमें निर्णयकी शक्ति न होनेसे स्वप्नोंमें कोई क्रम, कोई ठीक व्यवस्था नहीं रहती। स्वप्नमें ऊँटके धड़पर बकरीका सिर या बकरीके हाथी-जैसी सूँड़ इसी अव्यवस्थाके कारण दीखती है।'

अब भी डाक्टर कुछ बोले नहीं। वे गम्भीरतासे सुन रहे थे। उसने बताया—'यहीं भारतीय मनोविज्ञानकी मान्यता कि मनके चार भाग हैं—बहुत महत्त्वकी जान पड़ती है। सामान्य अवस्थामें बहिर्मन (मन) और निर्णायक मन (बुद्धि) दोनों सो जाते हैं साथ ही। यदि अन्तर्मन भी सो जाय तो गाढ़ निद्रा आ जायगी। अन्त-र्मन जागता रहे तो स्वप्न दीखेंगे परंतु किसी कारण केवल बहिर्मन सो जाय और अन्तर्मनके साथ निर्णायक मन (बुद्धि) भी जागता रहे तो मनुष्य जाग्रत्के समान

व्यवस्थित रूपमें कार्य करने लगेगा। अन्तर्मनमें संस्कार तो हैं ही, निर्णायक मन उन्हें व्यवस्था देकर शरीरको उनके अनुसार चलाने लगता है।'

'मैंने ऐसी घटनाएँ बहुत पढ़ी हैं कि लोगोंने निद्रासे उठकर लेख या पत्र लिखे हैं, दुर्गम यात्राएँ की हैं। यह सब उन्होंने अनजानमें सोते-सोते किया है।' डाक्टर उपाध्याय अब बोले—'इससे आपकी व्याख्या—आपका मनो-विभाजन तो ठीक लगता है; परंतु अंहकार आप किसे कहते हैं?'

'वैज्ञानिकके लिये—विशेषत: यूरोपीय वैज्ञानिकके लिए इसे समझना बहुत कठिन है। वह यही जानता है कि शरीरमें रक्तका प्रवाह तथा हृदयकी गति अपने आप होती है। मनका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं।' उसने समझाया—'परंतु आप भारतीय हैं, आपने देखा भले न हो; किंतु यह सुना होगा कि योगी जब समाधि लगा लेता है, तब हृदयकी गति तथा रक्तका प्रवाह भी बंद हो जाता है। समाधिका अर्थ है—सम्पूर्ण मनोनिग्रह अर्थात् मनके सब कार्यालयोंको बंद कर देना। मनके निरोधसे जो कार्य रुक जाते हैं, उनका संचालन मनके द्वारा होता है, यह समझना कठिन नहीं है। शरीरका पूरा अन्तर्बहिः-संचालन मनके द्वारा ही होता है। मनके इस संचालक भागको, जो गाढ़ निद्रामें भी सदा जाग्रत् रहता है, अंहकार कहते हैं। आप सुविधाके लिये चाहें तो इसे संचालक मन कह सकते हैं।'

'हम अपने वास्तविक विषयसे दूर चले आये, यद्यपि मुझे इससे लाभ ही हुआ।' डाक्टर उपाध्याय बोले— 'मैं आपके इस विवेचनको और समझना चाहूँगा यदि आप समय देंगे।'

'परन्तु मेरी समस्या इससे किसी प्रकार सुलझती नहीं।' उसने कहा—'मैं बहुत सोचकर थक गया हूँ। जो पुकार आती है, वह मानव-कण्ठसे इतनी भिन्न होती है कि उसके संस्कार मेरे भीतर होंगे, यह विश्वास करने-की बात नहीं है। मैं स्वप्नावस्थामें उसे सुनता तो वह मेरे अन्तर्मनका कार्य हो सकता था, पर मैं तो घोर निद्रामें उसे सुनता हूँ। कब सुनूँगा यह समय भी निश्चित नहीं। चार दिनसे लेकर महीनोंतकके अन्तर पड़े हैं उसे सुननेमें।'

'मेरी समझमें कुछ नहीं आया, यह कहनेमें मुझे कोई लज्जा नहीं है।' डाक्टर उपाध्यायने बड़ी सरलतासे कह दिया। 'परंतु यहाँ गङ्गा-किनारे एक विरक्त संत आये हैं दो दिनसे। मुझे तो अच्छे साधु लगते हैं। आप उनके दर्शन कर आयें। जहाँ विज्ञान असफल होता है—इन महात्माओंकी शरण वहाँ अनेक बार सफल होते देखी गयी है।'

× × ×

[३]

'महाराज! मुझे कोई पुकारता है।' वह आस्तिक है और जब एक अच्छे मनोवैज्ञानिक किसी साधुकी प्रशंसा

करते हों, तब उन महापुरुषके दर्शन करनेकी उत्कण्ठा किसको नहीं होगी। वह सायंकाल महात्माके दर्शन करने पहुँच गया। वे एक वटवृक्षके नीचे बैठे थे। एकान्त देख-कर उसे प्रसन्नता हुई। प्रणाम करनेके पश्चात् अपनी समस्या उसने सुना दी।

'विश्वका कण-कण चञ्चल हो रहा है।' संतने अपने ढंगसे बात प्रारम्भकी—'प्रत्येक अणु गतिशील है। प्रत्येक प्राणी आकुल है कुछ करनेके लिए कुछ पानेके लिए। इस गतिका, इस क्रियाका, इस आकुलताका एक ही अर्थ है—कोई पुकार रहा है। उसके पासतक जाना है। उसे पाये बिना विश्राम नहीं है। उसतक पहुँचे बिना सुखसे सोया नहीं जा सकता।'

'परंतु मुझे तो कोई नाम लेकर पुकारता है। मैं उसकी पुकार सुनता हूँ।' उसने फिर पूछा—'वह क्या चाहता है? क्यों पुकारता है मुझे? कौन है वह?'

'वह तो सभीको पुकार रहा है। यह सारी व्यग्रता उसकी पुकारकी ही प्रतिध्वनि है।' संतने अपनी ही बात कही—'उसकी पुकार कहाँ प्राणी सुनते हैं। वह पुकारता है, वह चाहता है कि इस अपूर्णतासे उस परम पूर्णकी गोदमें लोग पहुँचें। वह कौन है, यही तो जानना है। उसे जान लो बस, काम पूरा हो गया।'

'महाराज!' उसका समाधान नहीं हो रहा था,। परंतु संतने बीचमें ही रोककर बात समाप्त कर दी—'उसकी

पुकार सुनो ! इसमें तुम्हारा परम सौभाग्य है कि यह स्मरण रक्खो कि तुम्हें कोई पुकारता है।'

बड़े अद्भुत होते हैं ये साधु। बाबाजी तो उठे और चल खड़े हुए। वह दो क्षण खड़ा रहा उनको जाते हुए देखता। व्यर्थ था अब उनके पीछे जाकर कुछ पूछना। वे अपनी मस्तीमें चले जा रहे थे। लौट आया वह ; किंतु ···—·········।

सहिष्णुता

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

उलझे शुष्ककेश, बढ़ा श्मश्रुजाल, शीतसे झुलसा काला पड़ा सर्वाङ्ग । देहका चर्म स्थान-स्थानसे चकत्तोंके रूपमें फट रहा है । पैरोंमें दो स्थानपर हिमदंशके घाव हैं और वे अभी भरे नहीं हैं । कौपीन और मैली कन्था, परिग्रहके नामपर एक कमण्डलु भी है और यात्रासहायिका-के रूपमें एक वन्यकाष्ठकी टेढ़ी बेडौल लकड़ी भी ।

सुविस्तृत भाल, सघन बंक भ्रूमण्डल, पद्मदलायत अरुणाभ नेत्र, उच्च नासिका, पतले अधरपुट, प्रलम्ब देह, प्रशस्त स्कन्ध एवं वक्ष, आजानु लम्बायमान भुजाएँ, दुर्बल कटिदेश—हिमपीड़ित, प्रसाधनविहीन, उपकरण-रहित भी वे ऐसे दीखते हैं कि कोई भी देखते ही उनके सम्मुख सहज मस्तक झुका देगा । यह दूसरी बात है कि

इस निर्जन प्रदेशमें सृष्टिकर्ताके इस कलानैपुण्यका कोई दर्शक ही नहीं है।

'मृत्योर्मामृतं गमय !' श्रुति अनेक बार श्रवणमें पड़ी थी ; किंतु शब्दका कर्णविवरोंमें प्रवेश ही तो श्रवण नहीं है। चित्त जब किसी विशेष शब्दको ग्रहण करनेकी उपयुक्त स्थितिमें होता है, कर्णरन्ध्रमें शब्दके प्रवेशके साथ ही हृदयमें एक प्रकाश हो जाता है। अर्थका यह अद्भुत प्रकाश जब होता है—उसीको श्रवण संज्ञा दी है शास्त्रकारोंने। उस दिन उन्हें श्रुतिका श्रवण हुआ—ठीक श्रवण और अमृतत्वकी खोजमें घर-परिवार, सुख-सम्पत्ति, वैभव-विलास सब छूट गये।

पूरे तीन वर्ष हो गये उन्हें भटकते। सुना था कि हिमालय आत्मदर्शियोंका देश है। यहाँ आये तो किसीने बता दिया—'मंगोलियाके मरुस्थलमें कोई सिद्ध योगी हैं।' पैदल भटकते रहे और ऐसे भटकनेके साथ जो पीड़ा-यन्त्रणा, अभाव-अपमान अनिवार्य रूपसे प्राप्त होते हैं, सब प्राप्त होते रहे।

अपरिचित देश, अपरिचित भाषा– सभी कुछ तो अपरिचित था। न मार्गका ज्ञान और न पूछनेका साधन। अपने आप मौनव्रत चलता रहा। जब कोई अपनी भाषा समझे ही नहीं, बोलते किससे ? संकेत भी सदा समझे नहीं गये। समझ लेनेपर भी एक कंगाल भिक्षुकके संकेत-का सर्वसाधारण कितना सम्मान करते हैं, आप क्या जानते नहीं। जिधर पैर उठा, चलते गये।

पैरोंमें छाले पड़े, बिवाइयाँ फटीं, घाव हुए ; किंतु यह देह अतिशय निर्लज्ज है। सब संकट सह लेगा और सरकता रहेगा। प्रत्येक परिस्थितिके अनुरूप परिवर्तित होता रहेगा। पैरका चमड़ा इतना कड़ा हो गया क्रमशः कि काँटे भी उसमें चुभना कठिन। शरीरका वर्ण काला पड़ गया और चमड़ा मोटा हो गया।

अनेक-अनेक दिन व्रत हुए। अनेक बार प्याससे मूर्छा आयी। प्रारब्ध शेष हो तो मृत्यु आती नहीं। कोई-न-कोई निमित्त रक्षाका बन ही जाता है। उनके लिए भी निमित्त बनते रहे। कण्ठ सींचनेको जल तथा उदरकी ज्वालामें झोंक देनेको इतना ईंधन मिलता रहा कि शरीर चल रहा है।

बच्चे तो बच्चे ही हैं सभी देशोंके ; किंतु अकारण ही उत्पीड़ित करनेवाले दुर्जनोंकी भी सर्वत्र बहुलता है। धूल और पत्थर मारकर जहाँ बार-बार सत्कृत होनेका अभ्यास हो गया, वहाँ समझमें न आनेवाले कर्कश शब्दों-का क्या महत्त्व था। वे कुत्सित गालियाँ हैं, जान भी लेते तो क्या बनना-बिगड़ना था। उनके देहपर थूका भी गया और गंदगी भी फेंकी गयी अनेक बार। चार बार संदेहमें स्थानीय अधिकारियोंने पिटवाया तथा कई-कई दिन कारागारमें भी रक्खा।

जहाँ मनुष्योंका ही यह व्यवहार था, कुत्ते भूँकते हैं तो क्या विचित्र बात है। लेकिन उनके किसी सदस्यने कभी काटा नहीं। मच्छर, मक्खी, कीड़े—इनका जो

स्वभाव है, उसे क्षमा कर देनेके अतिरिक्त उपाय भी क्या।

'अमृतत्व क्या है ? कहाँ है वह ? कैसे मिलेगा ?' जब पिपासा तीव्र होती है, दूसरी ओर देखनेका अवकाश ही नहीं मिलता। दूसरे सब कष्ट अपने-आप उपेक्षणीय हो जाते हैं। वे न तपस्या, कर रहे थे और न त्यागतितिक्षा-में उनकी निष्ठा थी। प्राणोंमें एक प्यास जाग उठी थी। उसे परितृप्त करनेके प्रयत्नमें लगे होनेसे देहकी ओर देखनेका अवकाश ही नहीं था।

'तू सहिष्णुता सीख।' इतने श्रम, इतने कष्ट-सहनके पश्चात् एक जनशून्य मरुस्थलमें अकस्मात् मिल गए एक दिगम्बर अवधूत। तेजोमय देह, जैसे शरत्कालीन चन्द्रपर धवल मेघका झीना आवरण पड़ा हो। परिचय न उन्होंने पूछा, न पूछनेका अवसर दिया। दो-तीन वाक्य कहकर मरुस्थलके अंधड़से जैसे अकस्मात् प्रकट हुए थे, वैसे ही उसमें अदृश्य हो गये। स्पष्ट संस्कृत भाषा थी उनकी— 'अमृतत्व तेरे अन्तरमें ही है। अनित्य स्पर्शोंको सहन करना सीख, वह प्रकट होगा। भटकना व्यर्थ है।'

'भटकना व्यर्थ है!' यह आदेश स्वीकार करके वह लौट पड़ा था और हिमालयतक पहुँच गया था। कहाँ किधरसे आया, कौन-कौनसे प्रदेश पड़े मार्गमें, यह उसे स्वयं पता नहीं।

× × ×

'सहिष्णुता सीख !' उस अमानव-प्राय लगते अद्भुत अवधूतके शब्द मस्तिष्कमें गूँजते नहीं, घनाघात करते हैं। उसने क्या-क्या नहीं सहा है। 'अब और ऐसा क्या है, जो उसे सहना है? अभीतक उसे सहिष्णुता सीखना ही शेष है ?'

जब उत्साह शिथिल होता है, समस्त श्रान्ति एक साथ दबा लेती है। इतने कष्ट, इतने अभाव, इतनी यन्त्रणामें कभी न हारनेवाला उसका चित्त आज हारने लगा है। 'अब इस हिमदेशमें अस्थियाँ गलती हों तो गल जायँ। इतना तो संतोष रहेगा कि पुण्यप्रदेशमें देहत्याग हुआ है।' वह एक हिमशिलापर ही बैठा और फिर लुढ़क गया।

'वत्स !' अमृत-सिञ्चन करनेवाली स्निग्ध वाणी श्रवणमें पड़ी—'अमृतका पुत्र है तू। अमृतत्व तेरा स्वत्व है। उठ ! इस प्रकार पराजय स्वीकार करना तुझे शोभा नहीं देता।'

'भगवन् !' उसने पड़े-पड़े ही नेत्र खोले और फिर हड़बड़ाकर उठा तथा चरणोंपर लुढ़क गया। पिंगलवर्ण जटाएँ मस्तकसे पादतलतक लम्बायमान थीं, भस्म-भूषित देह था और नेत्रोंमें अद्भुत करुणा थी। इतनी ही वह एक झलकमें देख सका था।

'उठ, समीप ही गुहा है। तुझे अभी उष्णता एवं आहारकी आवश्यकता है।' सहारा देकर उन्होंने उठा

दिया। वह उठकर खड़ा हो गया। चलनेकी शक्ति जान पड़ी उसे अपनेमें। उन अपरिचित कृपालुके पीछे उसे बहुत दूर नहीं जाना पड़ा।

पर्वतके भीतर एक साधारण गुफा। उसमें सीधे खड़े होनेका अवकाश नहीं था। बैठकर ही भीतर जाना पड़ा। वहाँकी उष्णताने उसे सुख दिया। सम्पूर्ण गुफा काली हो गयी थी धुआँ लगते रहनेसे। भीतर पाषाणशिलाएँ अनेक स्थानोंपर उभड़ी थीं। एक धूनी थी मध्यमें और एक किसी हिमप्रदेशीय पशुका चर्म बिछा था।

'वहाँ एक पार्श्वमें जलस्रोत है। तू ये कन्द ग्रहण कर।' धूनीमेंसे मोटे-मोटे लम्बे गोल दो कन्द उन्होंने निकालकर बाहर रख दिये और बोले—'आहार करके विश्राम कर। मैं कल दिवसके प्रथम प्रहरमें आऊँगा।'

उसने कन्द जलमें धो लिए। उसे लगा, इतना स्वादिष्ट भोजन जीवनमें पहली बार मिला है। उस चर्माम्बरपर सोया तो सम्पूर्ण रात्रि कैसे समाप्त हुई, पता ही नहीं लगा। सूर्योदय होते ही नित्यकर्मसे निवृत्त होकर, गुफा स्वच्छ करके वह प्रतीक्षा कर रहा था अपने उन आतिथेयकी।

'व्यक्तिके परिचयकी उत्कण्ठा व्यर्थ है!' आकर आसन स्वीकार करते ही उन महापुरुषने कहा—'व्यक्ति क्या? एक चर्मावरणसे परिसीमताका प्रतीयमान श्रम, इसके पीछे मत पड।'

'हिमप्रदेशमें तुझको वहुत अधिक ग्राम मिले हैं।' तनिक रुककर वे बोले—'मरुस्थल प्रदेशमें भी जनपद हैं। इनके निवासी तपोधन नहीं हैं, यह तू जानता है।'

'सहिष्णुता क्या ?' उसने अब सीधे पूछ लिया।

'हिमप्रदेशीय निवासी शीतसहिष्णु हैं और उष्ण-देशीय ऊष्मासहिष्णु, किंतु हिम या ऊष्मासहिष्णु हो जाना तितिक्षा नहीं है।' वे इस प्रकार बोलते जा रहे थे, जैसे प्रश्न उन्होंने सुना ही नहीं— 'तुम्हारे पूर्वज तितिक्षा समझते थे। वानप्रस्थाश्रमी शीतकालमें शीतल जलमें आकण्ठमग्न दिवस व्यतीत करे, ग्रीष्ममें संतप्त भूमिपर बैठकर पञ्चाग्नि सेवन करे और वर्षामें मेघोंको अपना निरन्तर मूर्धाभिषेक करने दे।'

'तितिक्षा इस जनने जानबूझकर तो नहीं की ; किंतु……।' उसने कुछ कहनेका प्रयत्न किया ; लेकिन फिर चुप हो गया।

'तितिक्षा तप है। तप तेज एवं सिद्धिका जनक है। परंतु तप अन्तःकरणको निर्वासन नहीं करता। विक्षेपका निवारण तपका कार्य नहीं।' वे बोलते जा रहे थे—'तप महासिद्ध बना दे सकता है अमृतपदकी प्राप्ति नहीं करा सकता। यह कार्य सहिष्णुता करती है।'

'सहिष्णुता ?' वह चौंका। उसे अब लगा कि उसने अबतक जो कुछ सहा है, वह तितिक्षा तो है ; किंतु सहिष्णुता ? इस सहिष्णुताको तो वह अभीतक समझ ही नहीं पाया है।

'तितिक्षा केवल एक पार्श्व है सहिष्णुताका।' उन महापुरुषने इस बार तनिक दृष्टि उठाकर उसकी ओर देखा था—'मात्रास्पर्श समझता है? रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—ये तन्मात्राएँ तो तू जानता ही है। तपस्वी अथवा तितिक्षु इनमें अप्रियका—दुःखका, प्रतिकूलवेदनाका आह्वान करता है। उसके उपयुक्त परिस्थिति प्रस्तुत करके उसे सहता है। अधिकांश तपस्वी शब्द और स्पर्शकी प्रतिकूलताको सह लेना ही तपकी सम्पूर्णता मानते हैं। कठोर स्पर्श, अत्यन्त शीतल या अत्यन्त ऊष्मामें शरीरको डाले रहना तथा निन्दा—अपमानको सह लेना—इतना ही तो तितिक्षाका क्षेत्र नहीं है। रूप, रस और गन्ध—इनका प्रतिकूल स्पर्श भी तितिक्षाके क्षेत्रमें ही है।'

'अब सहिष्णुता पता नहीं क्या होगी?' वह बोला तो नहीं; किंतु उसके चित्तमें प्रबल मन्थन चलने लगा। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं और पाँचोंके प्रतिकूल विषयोंको सह लेनेकी बात आ गयी। मानापमान शब्द या चेष्टाजन्य ही तो होगा। इतना सब तितिक्षा है, तपस्या है और यह सहिष्णुताका केवल एक पार्श्व है—अद्भुत बात लगती है उसे यह। जो अपरिचित महापुरुष उसके सम्मुख बैठे हैं, उन्होंने अकस्मात् बोलना बंद कर दिया है। उनके नेत्र बंद हो गये हैं। लगता है कि वे ध्यानावस्थित हो गये हैं। एक-एक क्षण उसे भारी लग रहा है। वह अत्यन्त उत्सुक हो उठा है।

'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्, अनुकूलवेदनीय सुखम्' मेंसे तू आधे भागको भूल क्यों रहा है ? तन्मात्राओंका स्पर्श केवल दुःख ही नहीं देता, सुख भी देता है। ये स्पर्शज सुख-दुःख दोनों अनित्य हैं। दोनों आने-जानेवाले हैं, दोनोंको अविचलित अन्तःकरणसे सह लेना सहिष्णुता है।' सम्भवतः उसके अन्तर्द्वन्द्वको उन महापुरुषने जान लिया था। इसलिए इस बार उन्होंने सम्पूर्ण बात एक साथ ही कह दी—'केवल दुःख ही व्यथा नहीं देता। सुख भी एक व्यथा ही है। वह भी मनको उन्मथित करके उद्विग्न करता है। हर्षावेशरहित, उद्वेगहीन स्थिर भावसे सुखको झेल लेनेवाला साधक क्या तुझको किसी घोरतर तितिक्षु—तपस्वीसे कम महत्त्वपूर्ण लगता है ?'

'ओह !' दीर्घ निःश्वास निकल गया उसके मुखसे। वह इतना चौंक गया था कि उसकी कल्पना तक करना कठिन है। तपस्वी स्थिर, नीरव, एकटक देख रहे थे उसकी ओर और उसने मस्तक झुका लिया था।

'गुरुदेव !' सहसा उसने दोनों चरण पकड़ लिए महापुरूषके।

'नहीं !' उन्होंने उसे स्नेहपूर्वक उठाया। 'वज्रयानका साधक अनङ्गवज्र चाहे जितना दीर्घायु एवं प्रज्ञापारमिता भगवतीका कृपापात्र हो, तेरा पथ-दर्शक नहीं हो सकता। तू हमारे कुलका नहीं है। अपने कुलमें, अपने अधिकारानुरूप पथसे ही साधककी प्रगति होती है। भगवान् पद्म-

पाणिने आदेश दिया था कि उनके इस दिव्यदेशमें आये सहज तापसको मैं अपनी वाणीका आतिथ्य देकर अर्चन करूँ। मैंने यह आतिथ्यका अल्प प्रयास किया है।'

'आप अब पधारें!' उसे अवरुद्ध-कण्ठ देखकर महापुरुषने ही कहा—'आपने अनायास तितिक्षाको परिपूर्ण कर दिया है। अब अपने गृहको लौटें। सुखको सहन करनेका अभ्यास करें। सहिष्णुता जिस दिन परिपूर्ण होगी अमृतत्व तो आपका स्वत्व है ही। समदुःख-सुख धीर पुरुष सहज अमृतत्वका स्वरूप है।'

नेत्र खुले रखो

'आपने यह व्यसन पालकर अच्छा नहीं किया।' वे मेरे मित्र थे, कांग्रेस-आन्दोलनके सहकर्मी थे। आन्दोलनका समय समाप्त हुए तब अधिक समय नहीं बीता था। दूरके सम्बन्धमें सम्बन्धी भी लगते थे और सबसे बड़ी बात यह कि वे मुझसे स्नेह रखते थे। अतः उनके हाथमें हुक्का देखकर मुझे खेद हुआ था।

उत्तर-प्रदेशमें हुक्का व्यापक है पर्याप्त दिनोंसे और ब्राह्मणोंके अतिरिक्त अन्य वर्णोंमें उसका इतना सम्मान है कि जातिबहिष्कृत व्यक्तिको 'हुक्के-पानीसे बाहर' कहा जाता है। आगतका स्वागत हुक्केके बिना सम्पन्न नहीं हुआ करता।

समाजमें रहना है तो उसके शिष्टाचार भी मानने ही पड़ते हैं। हम हुक्का पीते हैं या नहीं, यह भिन्न प्रश्न है; किंतु जो अपने यहाँ आयेंगे, उनके हाथमें ताजी चिलम चढ़ा हुक्का न देनेसे तो काम चलेगा नहीं; वे असन्तुष्ट होकर जायँ—अकारण लोकनिन्दा हो, यह किसीको प्रिय नहीं हो सकता। अतः क्षत्रिय होनेके कारण मेरे उन

सम्मान्य मित्रके यहाँ हुक्का-चिलम तो रहते ही थे। उनके द्वारका गौरव था—'सेर-सवासेर तम्बाकू प्रतिदिन जल जाती है।' सेवक न हो तो अभ्यागतके सम्मानमें स्वयं चिलम चढ़ा देनेमें उन्हें सङ्कोच नहीं होता था।

'बड़े-बूढ़े आग्रह करते हैं, तुम्हीं जगा दो।' उन्हें आज स्वयं तम्बाकू पीते पहली बार मैंने देखा था। वे कुछ संकुचित हुए और बहाना बनाया उन्होंने।

उनका बहाना—इसे बहाना कहना कठिन है। मुझे स्वयं इस परिस्थितिका पर्याप्त अनुभव है। ताजी भरी चिलमका तम्बाकू सुलगने न लगे, वहाँतक सम्भवतः पीनेवालेको पूरा स्वाद नहीं आता। प्रत्येक चाहता है कि दूसरे ताजी चिलमको 'जगा' दें। जो बड़े होते हैं, उनका छोटोंसे यह आग्रह साधारण बात है। ग्रामोंके सरल स्वभाव वृद्ध—वे अनेक बार अत्यधिक आग्रहपर उतर आते हैं—'नहीं पीते तो आजसे सही। अच्छा, केवल दो फूँक।' अनेक बार अपने नियमकी रक्षाके लिए मुझे दुराग्रही बनना पड़ा है।

'आप दूसरोंके आग्रहके कारण एक दुर्व्यसन ग्रहण कर लेंगे, ऐसी आशा तो नहीं थी।' मैंने असन्तोष व्यक्त किया। वे सुशिक्षित हैं, सुसंस्कृत हैं, अनेक बार स्वयं मादक द्रव्योंकी हानिपर प्रवचन करते हैं। शराब-गाँजा-की दूकानोंपर धरना देनेके स्थानीय आन्दोलनका उन्होंने संचालन किया है। उन्हें इतना शिथिल-चरित्र क्यों होना चाहिये।

'इधर पेटमें वायु रहने लगी है।' उन्होंने अब दूसरा बहाना बनाया। 'इससे आराम मिलता है। मैं अभ्यस्त नहीं बनने जा रहा हूँ। दिनमें केवल भोजनके पश्चात्—वह भी दस-पाँच दिनोंके लिए ही है। छोड़ देनेका निश्चय कर रखा है।'

'पेटकी वायुमें लाभकी बात आप मुझसे अधिक जानते हैं।' मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं आवश्यकतासे अधिक रुक्ष हो गया था—'लाभ अधिक है या हानि और स्वास्थ्य मिलेगा या अस्वास्थ्य—यह भी क्या आपको बताना है ?'

'मैं हानिकी बात मानता हूँ।' उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—'हानिकी बात समझाता हूँ लोगोंको ; किंतु मुझे उसका कोई अनुभव नहीं। एक हल्का-सा अनुभव कर लेना ठीक लगता है मुझे। थोड़ी हानि सही। आप विश्वास मानिये—दस-पन्द्रह दिनोंके बाद मैं अवश्य छोड़ दूँगा।'

मैं जानता हूँ—प्रत्येक व्यसन प्रारम्भ करते मन इसी प्रकार भुलावा दिया करता है। ये निश्चय—ये सङ्कल्प कभी पूरे होनेवाले नहीं होते।

× × ×

'आप यहाँ ?' उस दिन वे अचानक मिल गये नगर-में। उन्होंने मुझे देख लिया था सड़कपर जाते और मोटर

रोककर उतर पड़े थे। बड़े उल्लासपूर्वक मिले। 'घर चलिये!'

बहुत दिनोंपर—वर्षोंके पश्चात् हम दोनों मिले थे। उनका आग्रह मैं टाल नहीं सका। उन्होंने मुझे मोटरमें बैठा लिया। मैंने सङ्कोचपूर्वक पूछा—'आप किसी कामसे जा रहे थे?'

'काम तो जीवनभर साथ लगे रहेंगे।' मैंने देख लिया कि उनके स्वभावमें अब कर्तव्यदक्षता नहीं, एक निश्चिन्तताका भाव आ गया है।

अब वे एक उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारी हैं। विवाह, बच्चे—यह सब तो स्वाभाविक बात है। मेरा अच्छा स्वागत हुआ। बच्चे 'चाचाजी, चाचाजी' करते गोदमें आ बैठे और उनकी पत्नी जिन्हें भाभी कहकर मैंने प्रणाम किया था, जलपान प्रस्तुत करनेमें व्यस्त हो गयीं।

'आप अभी वैसे ही हैं?' उन्होंने पूछा।

'वैसे ही, एकाकी—निर्द्वन्द्व।' मैंने हंसकर कहा और तभी मेरी दृष्टि पलङ्गके सिरहाने रखी तिपाईपर गयी। 'इसे जेबमें तथा आलमारीमें रखनेसे ही काम नहीं चला करता। सिरपर भी रखना ही पड़ता है।'

'रात्रिमें जब नींद खुल जाती है, इसकी आवश्यकता पड़ती है।' उन्होंने मेरे विनोदका उत्तर गम्भीर स्वरमें ही दिया। 'गृहस्थीमें उलझा जीवन कितना चिन्तित होता

है, इसे आप कैसे समझ सकते हैं। यह तनिक चिन्तित चित्तको सहारा देती है।'

केवल सिगरेटका एक पैकेट तथा माचिसकी डिबिया रखी थी वहाँ तिपाईपर। इस सुसंस्कृत नागरिक जीवनमें ग्रामके हुक्केका प्रवेश असभ्यता होती।

कुछ लोग स्वभावसे विवश होते हैं। जहाँ जायँगे पुस्तकें देखीं और उलट-पुलट करने लगे। कम-से-कम नाम देख लेनेका लोभ— यह लोभ मैं भी रोक नहीं पाता। अपने स्वभावके अनुसार उनकी रैकमें लगी पुस्तकें उलटने लगा था मैं और कुछ अधिक मिल जानेकी आशासे मैंने समीपकी आलमारी खोल दी।

'चिन्तित चित्तको सहारा देनेका यह दूसरा साधन— सम्भवत: पहिलेसे अधिक प्रबल!' झटपट आलमारीके किवाड़ लगाकर मैं कुर्सीपर आ बैठा। वे हतप्रभ हो उठे थे। भाभी उसी समय जलपान लेकर आयीं और शीघ्रता-पूर्वक उसे रखकर लौट पड़ीं। मैंने इस क्षणार्धमें उस महिलाके भरे नेत्र देख लिए। पति शराबी हो गये हैं— कितनी व्यथा इस स्मरणसे ही एक आदर्श गृहिणीको होती है।

'विवाह न करके आपने अच्छा नहीं किया।' वे अब जलपानके लिए मेरे साथ मेजके समीप आ गये थे। मेरा चित्त दूसरी ओर ले जानेका प्रयत्न करने लगे थे। मेरे निजी जीवनमें रुचि प्रदर्शित कर रहे थे। जलपानमें मेरा उत्साह रह नहीं गया था; किंतु इतने वर्षोंके पश्चात्

मिले मित्रके प्रति उनके ही घरपर अशिष्ट होना मैं नहीं चाहता था। उनका आतिथ्य स्वीकार करना था और उनके प्रश्नोंके उत्तर भी देने थे।

'आप श्रीमद्भागवतका पाठ करते हैं और उसे समझते भी हैं।' उन्होंने इस बार अपने तर्कके समर्थनमें एक श्लोकार्द्ध सुना दिया--

'नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्।'

× × ×

मित्रसे विदा होकर मैं चला आया। एक मन्दिरमें ही मैं टिका था। रात्रि-शयनके लिए लेटकर भी निद्रा नहीं आ रही थी। जो लेटते ही पाँच मिनटमें खुर्राटे भरने लगे, उसके लिये नींद न आना— बड़ी उलझन लगती थी। वह श्लोकार्द्ध सिरमें चक्कर काट रहा था—

'नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्।'

पता नहीं कब पलकें बन्द हो गयीं। मैं किसी दिव्य देशमें पहुँच गया था। चारों ओर उत्तुङ्ग शिखर— उज्ज्वल हिममण्डित उन शिखरोंके मध्य सुविशाल समतल प्रशस्त भूमि और उस भूमिमें स्थान-स्थानपर पाषाण-कुटीरें।

कपिश जटाजूट, विशाल शरीर, आजानुलम्बित भुजाएं, तेजोदीप्त भाल—उन कुटीरोंमें एक-से तेजोमय, वल्कल-कौपीन तपोधन निवास करते थे। कोई ऋषियों-

का ग्राम—आश्रमकी अपेक्षा ग्राम कहना मुझे ठीक लगता है। मैंने वहाँ शिशु देखे मृगशावकोंके साथ क्रीड़ा करते और जगन्माताका गौरव जिनके पादपद्मोंमें गौरवान्वित हो उठे, ऐसी वे ऋषि-पत्नियाँ देखीं। वे तपोधन गृहस्थ थे—गृहत्यागी नहीं।

यज्ञीय कुण्डोंसे कुण्डलाकार उठता सुरभित यज्ञधूम—दिशाएँ पवित्र हो रही थीं और उन्हें निष्कलमष कर रहा था स्थान-स्थानसे उठता हुआ सस्वर श्रुतिघोष।

मैं समीप चला गया एक कुटीरके। शिलातलपर मृगचर्म पड़ा था और उसपर आसीन थे एक तेजोमय। लगभग दस वर्षके एक मुनिकुमार उनके समीप मेरे देखते-देखते उटजमेंसे आकर बैठ गये।

'तात !' अद्भुत स्वर था मुनिकुमारका। वे पूछ रहे थे—'श्रुति-शास्त्रोंमें अत्यधिक विचित्रता है। उनका समन्वय प्राप्त करना सहज नहीं है। तर्क सत्यका ही निर्णय करेगा, इसका भी विश्वास नहीं और ऋषिगण भी भिन्न-भिन्न मार्गोंके प्रतिपादक हैं। ऐसी अवस्थामें अपना अनुभव ही तो प्रमाणका निर्विवाद आधार होगा ?'

'वत्स ! विस्मृत हो रहे हो कि जीवन अति अल्प है और अनुभूतिका क्षेत्र अनन्त है !' स्नेह-स्निग्ध सान्द्र गम्भीर स्वर था उन तेजोमयका। 'असत्‌की दुःखरूपता-की प्रत्येक अनुभूति एक आघात देती है। जीवन चूर्ण हो जायगा यदि वह स्वतःकी अनुभूतियोंसे ही प्रकाश-प्राप्ति-का आग्रह करे।'

'तब ?' स्वरमें नहीं, ऋषिकुमारके नेत्रोंमें ही यह प्रश्न आया।

'विष मारक होता है—स्वत:के अनुभवसे ही जो इसे जानना चाहेगा, अनुभूतिको सार्थक करनेके लिए क्या वह शेष रहेगा ?' एक क्षण रुककर वे बोले। 'परानुभूति शिक्षाका सुलभ साधन क्यों नहीं वत्स ? दूसरे जिनसे हानि उठाते हैं—हम देखकर ही जान लेते हैं, हमारे लिए भी वह हानिकर है। नेत्र खुले रखो। देखो और ज्ञानका आलोक तुम्हें स्वयं प्रकाश देगा।'

'नेत्र खुले रखो !' मेरी निद्रा किस कारण भङ्ग हो गयी, यह अब स्मरण नहीं; किंतु उन तेजोमयके वे शब्द अब भी स्मरण हैं और श्रीमद्भागवतका वाक्य—**'नानुभूय न जानाति…'**यह पुत्र-स्नेहातुर प्रजापति दक्षका वाक्य—आदर्श तो नहीं बन सकती किसी ममतासक्तकी आसक्तिमयी उक्ति !

भगवान्‌की कृपा

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः ॥

(श्रीमद्भा० ६।११।२३)

'मुझे तुम्हारी कृपा-भिक्षा नहीं चाहिये ।' मुनीन्द्रने क्रोध एवं घृणासे लालाजीकी ओर देखा और लौट पड़ा । तेरह वर्षके इस बालकने यह भी नहीं सोचा कि इस विदेशमें वह स्वयं अपनेसे दो वर्ष छोटे भाईके साथ अनाश्रित हो गया है और आज तेजस्विताका समय नहीं है । आज कौन है जो उसको मान करनेपर मनायेगा ?

'नन्हा-सा छोकरा और इतनी शान !' लालाजी भुनभुनाये और फिर अपनी बही उलटने लगे । उन्हें डरनेका कोई कारण नहीं था । मुनीन्द्रके पिता यहाँ अपरिचित थे । कहीं काशीके आसपासके रहनेवाले थे वे । किसी कारणसे घर छोड़कर स्त्री-बच्चोंके साथ दिल्लीमें यहाँ पिछले दो वर्ष हुए आये थे । एक छोटी लड़की पहले ही चल बसी, स्त्रीने अपनी पुत्रीका अनुगमन किया । अब सुना कि घर जाकर लौटते हुए ट्रेनमें सन्निपात हुआ

और कानपुर अस्पतालमें पुलिसने उन्हें पहुँचा दिया। अस्पतालसे उनका शरीर श्मशान पहुँचाना पड़ा। अब ये दो लड़के रह गये हैं। मुनीन्द्रके पिताने उसे बताया था कि वे जो कुछ बचा पाते हैं, लालाजीके पास जमा करते हैं। अबतक उनके आठ सौ रुपये जमा हो चुके हैं। पितृहीन मुनीन्द्र भाईके साथ घर लौट जाना चाहता है। वह अपने पिताके जमा रुपये माँगने आया था। लालाजीने आश्चर्य-के साथ कहा—'कैसे रुपये? तुम्हारे पिताके कोई रुपये यहाँ जमा नहीं हैं।' पता नहीं कहाँसे फिर सहानुभूति जग पड़ी और स्नेहसे बोले—'तुमलोग बच्चे हो। घर जाना चाहो तो दस-बीस रुपये ले जाओ।'

मुनीन्द्र क्रोधसे तमककर चला गया था। लालाजीको भला उसकी क्या चिन्ता हो सकती थी। वह नन्हा लड़का कर ही क्या सकता था। रही पश्चात्तापकी बात, सो यदि आजकलका व्यापारी इस प्रकार सोचा करे—उँह, छोड़िये भी इन बातोंको।

मुनीन्द्रने अपने वस्त्र, बर्तन एवं पुस्तकें बेचीं और छोटे भाईको लेकर वह घर लौटा। यह घटना आजकी नहीं, इसे बीते तो आज पूरे सत्ताईस वर्ष हो चुके हैं। अब आज इसका कोई महत्त्व नहीं; किंतु ऐसा कहना भी ठीक नहीं। इसी घटनाका महत्त्व है; क्योंकि मुनीन्द्र आज बड़ी मस्तीसे कहता है—'उन लालाजीके रूपमें पहले-पहल श्यामसुन्दरने मुझपर कृपा की। मैं मूर्ख था, उस समय समझ नहीं सकता था।'

अच्छा तो इसे कृपाका क्रम कहिये या आपत्तियोंका, क्रम यहींसे प्रारम्भ हुआ। यह तो केवल श्रीगणेश था। इसके पश्चात् घरकी रही-सही चल एवं अचल सम्पत्ति बिक गयी या लोगोंने दबा ली, कभी इसके यहाँ और कभी उसके यहाँ इस प्रकार परिचितों एवं सम्बन्धियोंके यहाँ रहकर किसी प्रकार दोनों बच्चोंको जीवनके वर्ष व्यतीत करने पड़े। इस कष्ट-कथाको बढ़ानेमें हमारा आपका कोई लाभ नहीं, अतः इसे यहीं समाप्त होने दीजिये।

पिता भगवती सिंहवाहिनीके उपासक थे। बिना दुर्गापाठ किये उनके कण्ठके नीचे जल रुग्णावस्थामें ही उतर सकता था। मुनीन्द्रसे उनका मोह बहुत था। फलतः मुनीन्द्र जब बहुत छोटा था, उसे दुर्गाकवच रटना पड़ा। बड़े सबेरे स्नान करके पिताको जब वह कवचका पाठ सुना देता, तब वे अपने पूजाके आसनपर बैठते और नन्हा बालक कहीं छिपकर फिर सो जाता। पिताके परलोक पधारनेके साथ उसका कवच-पाठ भी छूट गया और छूटा सो छूटा। लेकिन ये श्यामसुन्दर मयूरमुकुटी त्रिभङ्गसुन्दर तो सीधे देवता नहीं हैं। इन्होंने कब मुनीन्द्रको पकड़ा, वह स्वयं नहीं जानता। एक बार एक चित्र सुन्दर लगा, खरीद लाया। अब इन व्रजराजकुमारको क्या कोई छोड़ सकता है? ये किसीको पकड़ भर लें—पकड़ना ही सीखा है इन्होंने। पकड़नेको हाथ फैलाये ही रहते हैं। लेकिन छोड़नेका पाठ पढ़ानेवाला गुरु इन्हें नहीं मिला। सो नहीं ही मिला।

मुनीन्द्र कहता है—'कन्हाई उसपर सदा कृपालु रहा है।' आप इसका समर्थन नहीं कर सकते और वह भी इस कृपासे पिन्ड छुड़ानेके लिये कम छटपटाया हो, कम रोया हो सो बात नहीं हैं। उसकी छातीमें भी मांसका कलेजा ही धुक-पुक करता है और कलेजा है तो उमंगें भी रहेंगी ही। कौन धन नहीं चाहता? किसे बड़प्पन काटने दौड़ता है? ऊँची कोठी, उत्तम सामग्री, शरीरका सुख किसे अभीष्ट नहीं है? बहुत हाथ-पैर मारे मुनीन्द्र-ने। उसे लगकर काम करना आता है! उसे आजतक किसीने बुद्धू नहीं कहा। जहाँ भी वह लगा दूसरोंको उसकी सदा अपेक्षा रही। इतनेपर भी वह सदा असफल रहा। सदा उसके उद्योग फलहीन होते गये और वह अब कहता है—'ठीक समयपर मेरा श्याम मुझे सम्हाल लेता है।'

संसार केवल श्रम नहीं चाहता, बहुत कुछ चाटुकारी चाहता है। मुनीन्द्रके कृपालुने उसे कदाचित् 'मान' का ही वरदान दिया है। जहाँ सफलता सामने दीखती है, उसका मान उसे कहीं-न-कहीं भिड़ा देता है। श्रम उसका और परिणामके समय उसे पृथक् होना रुचने लगता है। तुच्छता उसे रुचती नहीं। वह कुत्ता नहीं जो पूँछ हिलावे या टुकड़ोंके लिये लड़े।

अनेक स्थलोंपर उसे 'मान' मिला है। उसपर कृपा करनेवाला हारना नहीं जानता। 'कर्मका मारा खेती करै। बैल मरै या सूखा परै।' कारणोंका कहीं अभाव होता है किसीको असफल बनानेके लिये?

'आपने सफल होकर कौन-सा तीर मार लिया है ?' उस दिन जब एक मित्र मुनीन्द्रको समझाने लगे, तब उसने अद्भुत तर्क किया। वह निश्चिन्त रहता है, मस्त रहता है, यह सब तो ठीक ; किंतु कंगाल है वह और यह निर्धनता—कौन इसका समर्थन करेगा ?

× × ×

'मैं पतित हूँ। अधम हूँ। मेरे-जैसा निकृष्ट पापी कोई नहीं हो सकता।' मानधनी मुनीन्द्र आज फफककर रो रहा है। इधर दो सप्ताहसे एकान्तमें पहुँचते ही उसके नेत्र झरने लगते हैं। हिचकियाँ बँध जाती हैं। उसका मुख पीला पड़ गया है। भोजनमें रुचि नहीं रही उसकी। आजकल उसकी सहज हँसी दुर्लभ हो गयी है।

'क्या किया है उसने ? कौन-सी भूल उससे हो गयी ?' लेकिन ऐसा कुतूहल ही क्यों ? हजरत चिरकीनकी बात तो मैं नहीं करता। वे मानवरुचिके एक अद्भुत अपवाद हो गये हैं। लेकिन क्या, आपको मनुष्यके मल-मूत्रके रंग-रूप एवं गन्धादिकी व्याख्या सुननी पसंद है ? नहीं है तो फिर मनुष्यके मानसिक स्खलनकी विवेचनामें ही कौतूहल क्यों ? विकार भी तो जीवनके मल ही हैं। उनके विवेचनसे वक्ता-श्रोताको विकृतिके अतिरिक्त और क्या मिल सकता है।

'मेरा कोई प्रायश्चित नहीं। मरकर भी मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।' मुनीन्द्र आज एक महापुरुषके चरणोंमें गिरकर क्रन्दन कर उठा है। 'मैंने······।'

'तुमने कुछ नहीं किया है।' महात्माने स्नेहसे मस्तक-पर हाथ रक्खा उसके और उससे बोलनेसे रोक दिया। किसीसे क्या भूल हुई, यह जाननेसे तो कोई लाभ नहीं। संतने समझाया—'तुम मुझे एक प्राणी बता दो जो तुम्हारे ही जैसा या तुमसे भी अधिक अपराध न कर चुका हो। कोई कितने जन्मोंसे पुण्यात्मा है? सर्वज्ञ परमात्माके लिये आजके पापी और सौ जन्म पहलेके पापीमें क्या समयका अन्तर होता है?'

जैसे ग्रीष्म ऋतुकी दोपहरीमें प्याससे सूखते कण्ठमें एक नन्हा-सा बरफका टुकड़ा पहुँच गया हो—मुनीन्द्रने मस्तक उठाकर संतकी ओर देखा। अब भी उसकी पलकें और कपोल भीगे हुए थे और उन्हें पोंछनेका उत्साह अभी लौटा नहीं था।

'भगवान् दयासागर हैं। वे इसीलिये पुण्यश्रवा कहे जाते हैं कि जीवोंके पापको वे न देखते और न सुनते।' संतने समझाया—किसने कब क्या किया, यह कोई महत्त्वकी बात नहीं। कौन कबसे भूल न करनेका निश्चय करके उन परम कृपालुकी ओर चल पड़ा, बस, इतनी बात महत्त्वकी है। तुम इसे आज और अभी कर सकते हो।

मुनीन्द्र लौट आया उस दिन आश्वस्त होकर। लेकिन यदि मन इतना शीघ्र मान लिया करता तो श्यामसुन्दर स्वयं उसे 'मनो दुर्निग्रहं चलम्' क्यों कहते? वासनामें, विकार और चञ्चलता। बालकके डगमग पैरोंमें चलनेकी शक्ति नहीं और मायादेवीका यह आंगन फिसलनसे

भरपूर भरा है। चलना, उठना और गिरना—लेकिन चले बिना तो पैरोंमें शक्ति आयेगी नहीं। बालक गिरकर उठना न चाहे तो चलना आयेगा कैसे ?

कहते हैं कि युवावस्था, स्वाधीनता, अविवेक एवं धन हो तो पतन अनिवार्य हो जाता है। वैसे इनमेंसे कोई एक ही पतनके लिये पर्याप्त है। मुनीन्द्र कंगाल है—बस, यही एक सुविधा है उसे। बुद्धिका निर्णय, बुद्धिका विवेक मनके प्रवाहमें टिक सके, ऐसा तो धीर पुरुषोंमें ही होता है। सामान्य जन मनके प्रवाहमें बहते हैं।

'मैं अनुष्ठान करूँगा।' कामनाओंकी बाढ़ रुकना नहीं जानती और बुद्धि कहती है कि मर्यादामें रहना ही चाहिये। जब लौकिक साधन नहीं रह जाते, तब मनुष्य आकाशकी ओर देखता है। मुनीन्द्रपर अनेक प्रसिद्धि प्राप्त सिद्ध पुरुषोंकी कृपा है। उसने थोड़ी संस्कृत पढ़ ली है और खींच-तानकर अभीष्ट ग्रन्थोंका उलटा-सीधा अर्थ भी निकाल लेता है। अब वह अपनी कामनाओंको आराधनासे पूरा करेगा।

'ये सब शास्त्र झूठे हैं। कोई देवी-देवता नहीं है। व्यर्थमें लोगोंको ठगनेका ढोंग फैलाया है धूर्तोंने।' आप मुनीन्द्रपर रुष्ट हो सकते हैं, किंतु उसे दोष नहीं दे सकते। वह आधी रातको श्मशानमें गया है। उसने अंधकारपूर्ण स्थानमें घंटों नग्न रहकर जप किया है। आज तीन वर्षसे वह प्रेत-यक्षिणी, छाया-पुरुष और देवताओंकी आराधना-में लगा है। कई अनुष्ठानोंको वह तीन-चार बार दुहरा

चुका है। उसे भय नहीं लगता। प्रमाद उससे हुआ नहीं। विधि जानने और पूर्ण करनेमें वह असाधारणरूपसे सावधान है। इतनेपर भी उसे कोई लाभ नहीं हुआ। देवता तो दूर, प्रेत भी उसे स्वप्नतकमें नहीं दीखा कभी। अब वह जो अविश्वास करता है—क्या दोष है उसका।

'तुम क्या प्रत्यक्षको भी स्वीकार नहीं करते?' आज एक गुदड़ीधारी सिद्ध मिल गये हैं। उन्होंने मुनीन्द्रको एक मुट्ठी किसमिस दी है अपने खाली हाथको सामने ही बंद करके।

'मेरी समझमें कुछ नहीं आता।' मुनीन्द्रके नेत्र भर आये। वह ऐसे चमत्कार और भी स्थानोंपर देख चुका है। अनेक देखी या सुनी घटनाएँ ऐसी हैं, जिनपर वह अविश्वास कर नहीं सकता। 'मुझे कुछ क्यों नहीं होता? मैंने ही ऐसा क्या पाप किया है?'

'तुम धन्य हो। बड़े सौभाग्यशाली हो तुम।' पता नहीं दो क्षण नेत्र बंद करनेके पश्चात् उन संतको क्या हो गया। उनके नेत्रोंसे आंसू झर-झर झरने लगे और मुनीन्द्रसे लिपट पड़े वे। 'हम तो अभागे हैं। जिस श्रमसे हीरा मिल सकता था, हमने उससे काँच खरीद लिया। हमने अपने-आप अपनी चुटिया नन्ही शक्तियोंके हाथोंमें दे दी। तुम्हारा रक्षक ऐसा नहीं है कि उसके सेवककी ओर कोई ऐरा-गैरा आँख उठाकर देख सके।'

मुनीन्द्रकी समझमें कुछ नहीं आया। संत बहुत देरतक

कहा—'भैया ! तुम क्यों सकाम उपासनामें इधर-उधर भटकते हो। जो बच्चा माताकी गोदमें बैठा है, वह चाहे जिससे चाहे जितना रोकर माँगे, पर किसमें साहस है जो बच्चेको अग्निका लाल-लाल अँगारा दे देगा। जिसने श्यामसुन्दरके हाथों अपनेको सौंप दिया, उसके सकाम अनुष्ठान सफल ही होंगे—ऐसा आश्वासन कोई नहीं दे सकता।

आप आश्चर्य करेंगे, मुनीन्द्र अब बहुत प्रसन्न होता है। वह न रोता और न रुष्ट होता। वह बड़ी प्रसन्नता-से कहता है—'कन्हाई अपने नन्हे करोंसे मेरी आराधना अस्त-व्यस्त कर देता होगा। बेचारे देवता क्या करें, वह चपल स्वयं ही सारा नैवेद्य मुखमें धर लेता होगा।'

उसकी कामनाएँ सदा अपूर्ण रहीं। उसके उद्योग नष्ट होते रहे और वह कहता है—'बड़े मजेकी बात है।' ऐसा मजा क्या आपमेंसे कोई पसंद कर सकता है ?

× × ×

'मैं आपके लिए नाथद्वारेका प्रसाद ले आया हूँ।' ग्रीष्मकी तपती दोपहरीमें लगभग दो मील चलकर केवल प्रसाद देने वे आये थे। उनके बड़े भाई नाथद्वारा रहते हैं। वहाँसे जब आते हैं, प्रसाद ले आते हैं। मित्रता होनेके कारण उस प्रसादमेंसे वे मुनीन्द्रको भी थोड़ा देते हैं। लेकिन इस प्रकार उसकी कुटियापर तो कभी प्रसाद पहुँचाया नहीं जाता। वह जब प्रातःकाल नगरमें जाता

है, उसका भाग सुरक्षित मिल जाता है उसे। 'भैया ! अभी नौ बजे ही आये। मैंने सोचा कि आपको अभी दे आऊँ।' लानेवालेके सौहार्दकी प्रशंसा तो करनी ही पड़ेगी।

'प्रसादसे तो व्रत भङ्ग होता नहीं; किंतु………' श्रद्धासे मस्तक झुकाकर प्रसाद स्वीकार किया गया, लेकिन एक समस्या भी आ गयी सामने। आज मुनीन्द्रका निर्जला एकादशीका व्रत है। प्रसादसे भले व्रत भङ्ग न हो, पर भरपेट नाथद्वारेके उस चपल ठाकुरका यह पक्वान्न प्रसाद पेटमें पहुँचा देनेपर बिना जल पिये कैसे रहा जा सकेगा? स्वयं जल पीनेसे निर्जल व्रतका नियम तो रह सकता नहीं।

'आज घरपर ठाकुरजीको पञ्चामृतसे स्नान कराया गया था।' लगभग ढाई पाव पञ्चामृत ले आये थे वे मित्र। बड़ा संकोच हो रहा था उन्हें भी। बड़ी नम्रतासे उन्होंने कहा—'मुझे स्मरण ही नहीं रहा कि आप आज व्रत होंगे। आप सदा एकादशीका व्रत करते हैं, यह मैं जानता हूँ और आज तो मैं स्वयं भी व्रत हूँ; किंतु प्रसाद ले आते समय व्रतका कुछ ध्यान ही नहीं आया।'

आज वर्षों बाद भी उस दिनका स्मरण होनेपर मुनीन्द्रके नेत्र गीले हो जाते हैं। उसका एकादशी व्रत तो चलता है; किंतु निर्जल व्रत तो उसी दिन चला गया। कन्हाईको उसकी भूख-प्यासकी इतनी टेढ़ी-सीधी व्यवस्था करनी पड़े, इसे उसके प्राण सह कैसे सकते हैं।

कहा—'भैया ! तुम क्यों सकाम उपासनामें इधर-उधर भटकते हो। जो बच्चा माताकी गोदमें बैठा है, वह चाहे जिससे चाहे जितना रोकर माँगे, पर किसमें साहस है जो बच्चेको अग्निका लाल-लाल अँगारा दे देगा। जिसने श्यामसुन्दरके हाथों अपनेको सौंप दिया, उसके सकाम अनुष्ठान सफल ही होंगे—ऐसा आश्वासन कोई नहीं दे सकता।

आप आश्चर्य करेंगे, मुनीन्द्र अब बहुत प्रसन्न होता है। वह न रोता और न रुष्ट होता। वह बड़ी प्रसन्नता-से कहता है—'कन्हाई अपने नन्हे करोंसे मेरी आराधना अस्त-व्यस्त कर देता होगा। बेचारे देवता क्या करें, वह चपल स्वयं ही सारा नैवेद्य मुखमें धर लेता होगा।'

उसकी कामनाएँ सदा अपूर्ण रहीं। उसके उद्योग नष्ट होते रहे और वह कहता है—'बड़े मजेकी बात है।' ऐसा मजा क्या आपमेंसे कोई पसंद कर सकता है ?

× × ×

'मैं आपके लिए नाथद्वारेका प्रसाद ले आया हूँ।' ग्रीष्मकी तपती दोपहरीमें लगभग दो मील चलकर केवल प्रसाद देने वे आये थे। उनके बड़े भाई नाथद्वारा रहते हैं। वहाँसे जब आते हैं, प्रसाद ले आते हैं। मित्रता होनेके कारण उस प्रसादमेंसे वे मुनीन्द्रको भी थोड़ा देते हैं। लेकिन इस प्रकार उसकी कुटियापर तो कभी प्रसाद पहुँचाया नहीं जाता। वह जब प्रातःकाल नगरमें जाता

है, उसका भाग सुरक्षित मिल जाता है उसे। 'भैया ! अभी नौ बजे ही आये। मैंने सोचा कि आपको अभी दे आऊँ।' लानेवालेके सौहार्दकी प्रशंसा तो करनी ही पड़ेगी।

'प्रसादसे तो व्रत भङ्ग होता नहीं ; किंतु........' श्रद्धासे मस्तक झुकाकर प्रसाद स्वीकार किया गया, लेकिन एक समस्या भी आ गयी सामने। आज मुनीन्द्रका निर्जला एकादशीका व्रत है। प्रसादसे भले व्रत भङ्ग न हो, पर भरपेट नाथद्वारेके उस चपल ठाकुरका यह पक्वान्न प्रसाद पेटमें पहुँचा देनेपर बिना जल पिये कैसे रहा जा सकेगा ? स्वयं जल पीनेसे निर्जल व्रतका नियम तो रह सकता नहीं।

'आज घरपर ठाकुरजीको पञ्चामृतसे स्नान कराया गया था।' लगभग ढाई पाव पञ्चामृत ले आये थे वे मित्र। बड़ा संकोच हो रहा था उन्हें भी। बड़ी नम्रतासे उन्होंने कहा—'मुझे स्मरण ही नहीं रहा कि आप आज व्रत होंगे। आप सदा एकादशीका व्रत करते हैं, यह मैं जानता हूँ और आज तो मैं स्वयं भी व्रत हूँ ; किंतु प्रसाद ले आते समय व्रतका कुछ ध्यान ही नहीं आया।'

आज वर्षों बाद भी उस दिनका स्मरण होनेपर मुनीन्द्रके नेत्र गीले हो जाते हैं। उसका एकादशी व्रत तो चलता है ; किंतु निर्जल व्रत तो उसी दिन चला गया। कन्हाईको उसकी भूख-प्यासकी इतनी टेढ़ी-सीधी व्यवस्था करनी पड़े, इसे उसके प्राण सह कैसे सकते हैं।

एक निर्जलाकी ही तो बात नहीं है। उसे धुन चढ़ी थी उन दिनों तपस्वी बननेकी। वैसे न शारीरिक और न मानसिक व्यायाम ही उससे होते; किंतु कोई खटपट उसे करना पड़े, यह भी उसके स्वभावके विपरीत है। अपने खटपट की या अपने लिए दूसरोंने खटपट की, बात तो एक ही है। उसने सोचा था, पर्वतमें किसी झरनेके पास रहने लगे तो भोजन बनाने तथा वस्त्रादिकी बड़ी खटपट छूट जाय। सारे बन्धन, सारे झमेले समाजके ही तो हैं। वह समाजमें रहे ही नहीं तो? लेकिन—'मेरे मन कछु और है, कर्ताके कछु और।'

'जंगलोंमें जायँगे, गुफामें रहेंगे, कन्द-मूल-फल खायँगे और डटकर भजन करेंगे।' ऐसे स्वप्न तो वे अनुभवहीन लड़के देखते हैं, जिन्होंने जंगलका मुख ही नहीं देखा। कन्द-मूल-फलके नामपर जिनके मनमें सदा आम-अमरूद, सेव-अंगूरका स्वाद जगता है। भजनका जिन्होंने नाम तो सुना है, पर किया नहीं है। मुनीन्द्रको अवसर मिलनेपर वनों या पर्वतोंमें घूम आनेका व्यसन है। वह जानता है कि आज वनों एवं पर्वतोंमें वर्षमें छिट-फुट दिनोंको जोड़-बटोरकर तीन मासके लगभग भले घटिया श्रेणीके आम आदि फल मिलें; पर कोई उनसे जीवन-निर्वाहकी आशा नहीं कर सकता। गुफाओंमें प्रायः चमगीदड़ोंके झुड या वन-पशुओंके आवास होते हैं। वे न भी हों तो भी मच्छर, दीमक, चीटियाँ, ऊमस आदि बाधाएँ तो सर्वत्र हैं। झरनोंके पास वन-पशुओंका आवागमन प्रायः

रहता है और भजन तो जो घरपर नहीं कर सकता, एकान्तमें बिल्कुल ही नहीं कर सकेगा। वहाँ तो निद्रा, आलस्य, भय तथा उद्विग्नता और बढ़ जाती है।

मुनीन्द्रकी योजना दूसरी ही थी। वह वनके छोटे-छोटे घटिया किस्मके बहुतायतसे मिलनेवाले बेलके फल एकत्र कर लेगा। उदुम्बर (गूलर) पकनेपर उसे सुखाकर रख लेगा। आँबलेके द्वारा पोषण तत्त्व मिल जायगा उसे। कुछ कड़वे-कषैले कन्द भी मिलते ही हैं। चार तथा तेंदूकी ऋतुमें दस-पंद्रह दिन वे काम चला देंगे। इस प्रकार स्वादकी चिन्ता सर्वथा छोड़ देनेपर पर्वतोंमें जीवन किसी प्रकार बिताया तो जा ही सकता है। वन-पशुओंसे उसे भय नहीं लगता; क्योंकि वह जिस दिन पर्वतमें पहुँचे, उसी दिन उसे कोई अपने पेटमें पहुँचा दे, इसमें भी हिचकनेका कारण नहीं देखता, मच्छर, चींटी तथा गुफाओंकी ऊमस एवं दुर्गन्धि—अनेक बार वह पर्वतोंमें घूमकर अनुमान कर चुका है कि इनको किसी प्रकार सह लेगा। भजन--यही एक प्रश्न है। भजन होगा या नहीं, इसमें उसे सदा सन्देह रहा है; किंतु परीक्षण तो करना चाहिये।

जहाँ वह रहता है वहाँसे तीन-चार मील दूर एक वनोंसे ढका पर्वत है। दो-तीन बार घूमनेसे उसमें अच्छा झरना एवं समीप सिर छिपाने योग्य गुफा मिल गयी है। बिना किसीको कुछ बताये वह चला गया पर्वतमें। यदि

परीक्षण सफल हो गया तो ठीक, नहीं तो दो दिन बाद लौट जानेमें तो कोई बाधा है नहीं।

'मैंने आपको पर्वतपर आते देखा था। यहाँ आपको कष्ट होगा, इसलिए भोजन ले आया हूँ।' सूर्यास्तके पश्चात् कोई उसके लिए दो मील नीचे गाँवसे भोजन तो ले आयेगा और रात्रिके अन्धकारमें वन-पशुओंसे भरे पर्वतीय मार्गसे लौटनेकी आशङ्का मोल लेगा. यह कोई कैसे अनुमान कर सकता था।

'आपको यहाँ एक लकड़िहारेने देख लिया था। वह इधर लकड़ी तोड़ने आया था। उसने बताया कि एक बाबू पहाड़पर अकेले बैठे हैं।' मैं आपके लिए दूध और थोड़ी-सी पूड़ियाँ शाकके साथ ले आया हूँ।' यह एक रही। वह पहले दिनके स्थानसे दो मील दूर चला गया तो, वहाँ दूसरे सज्जनको आज किसी लकड़िहारेने भेज दिया।

'आप यहाँ कुछ दिन रहें तो मैं आपके लिए भोजन पहुँचा दिया करूँगा। कल तो मेरी एक गाय भाग गयी थी। उसे ढूंढ़ते मैं नीचे नालेकी ओर आया तो देखा कि आप इधर आ रहे थे। इस ओर यही एक झरना है। मैंने समझ लिया कि आप यहीं रुकेंगे।' यह तीसरे दिन-की घटना है। मुनीन्द्र अब क्या कहे? उसके लिए जब विश्वम्भरको ही खटपट करनी है तो लकड़िहारों, भागी गायों, घूमने निकले खेतिहरोंसे वह कहाँ-कहाँ छिपता फिरेगा। वह उसी दिन लौट आया पर्वतसे।

बहुत संस्मरण हैं, आज उसे पता नहीं क्या-क्या याद आ रहा है। वह धनी नहीं कङ्गाल है और उसके पास ये ब्राह्मण देवता माँगने आये हैं। इन्हें धन नहीं चाहिए, किसीने इन्हें बहका दिया है कि मुनीन्द्र अपने कुछ पुण्य सङ्कल्प कर दे तो इनका बीमार पुत्र अच्छा हो जायगा। कहाँ पावे मुनीन्द्र पुण्यको ? वह कहता है—'मैंने जब कुछ करना चाहा, कन्हाईने मेरे घरौंदे अपने चञ्चल चरणोंसे उलट-पलट दिये। मेरे धर्म-कर्म तो कबके उसे भेंट हो गये। मेरे पास पुण्य है कहाँ महाराज ?

× × ×

'आज आप मेरे यहाँ प्रसाद पावें !' मुनीन्द्र आज बहुत प्रसन्न है। बड़ी उमङ्गमें है वह।

'आज कोई नयी बात है क्या ?' ब्रह्मचारीजीने हँसते हुए पूछा।

'आज माला लाया हूँ, फूल लाया हूँ, अपने भगवान्‌को खूब सजाया है और ढेरसे फल उनके सामने धर दिये हैं। आपको भरपेट मिठाई खिलाऊँगा।' जब यह मस्तीमें आता है, पूरा बालक बन जाता है।

'किस बातका उत्सव है ?' उत्सवकी साज-सज्जा बताकर भी कारण न बताया जाय तो कौतूहल बढ़ना ही चाहिए। आज कोई विशेष पर्व तो है नहीं। वैसे तो हमारे ऋषियोंने इतने पर्व बताये हैं कि वर्षमें कोई दिन ऐसा नहीं, जो पर्व न हो।

'आपने तो मेरी पुस्तक देखी थी न?' मुनीन्द्र उल्लासपूर्वक बोला। वह गत दो वर्षोंसे लगातार चार-पाँच घण्टे श्रम करता रहा है। ढेरों ग्रन्थ उलट-पलटकर बहुत रुचिसे उसने एक बड़ा-सा ग्रन्थ लिखा है। उसके अनेक परिचितोंने उसके ग्रन्थकी प्रशंसा की है। उसे आशा रही है और उसके मित्र कहते रहे हैं कि उसके ग्रन्थका पर्याप्त सम्मान होगा। उसने योजना बना रक्खी है कि ग्रन्थ प्रकाशित होनेपर उसके पारिश्रमिकसे वह एक लम्बी पर्वतीय यात्रा करेगा।

'तुम्हारी पुस्तक छप गयी क्या?' अभी छः महीने पहले एक अच्छे प्रकाशकने देखनेके लिए पुस्तक मँगायी थी। इतनी उत्तम पुस्तकको यदि प्रकाशकने शीघ्रतासे प्रकाशित कर दिया तो कोई आश्चर्यकी बात तो है नहीं; किंतु अभी परसोंतक तो मुनीन्द्र कहता था कि वह प्रकाशक पत्रोंके उत्तर भी नहीं देता है। ग्रन्थ छापकर उसने मुनीन्द्रको चमत्कृत कर दिया—यह अनुमान करना ब्रह्मचारीजीके लिए भी बड़ा सुखद प्रतीत हुआ।

'मेरी पुस्तक आ गयी है।' मुनीन्द्र उसी उल्लासमें कह रहा था।

'तुम ले क्यों नहीं आये? कैसी छपी है? क्या मूल्य रक्खा है उसका?'

'छपी कहाँ है, वैसे ही लौट आयी है।' मुनीन्द्रके मुखपर जो हर्ष है, उसे देखते हुए उसकी बातपर विश्वास करना कठिन ही है।

'लौट आयी है ?' ब्रह्मचारीजीको ऐसा लगा जैसे उनके लिखे ग्रन्थको ही किसी प्रकाशकने अस्वीकृत करके लौटा दिया हो।

'प्रकाशक कहते हैं कि ग्रन्थ सुन्दर तो है ; किंतु युगकी माँगके अनुरूप नहीं है।' मुनीन्द्र हँसते हुए कह गया—'वे ठीक तो कहते हैं।'

'क्या ठीक कहते हैं ?' ब्रह्मचारीजी खिन्न हो गये।

'आप उदास न हों, मैं आपको आज मिठाई खिलाऊँगा। दूसरे मित्रोंको भी बुलाना है। आप नहीं आयेंगे तो सबको बुरा लगेगा।' वह हँसता हुआ वहाँसे चला गया।

'इसने ठीक बात नहीं कही है। पुस्तक लौट आयी हो सकती है ; पर कोई अच्छा सुझाव या आश्वासन होना चाहिये उसके साथ।' ब्रह्मचारीजी सोचने लगे कि ऐसी क्या बात हो सकती है, जिसे मित्र-गोष्ठीमें सहसा प्रकट करके मुनीन्द्र सबको चौंका देनेके प्रयत्नमें लगा हुआ है।

'तुमने पूरी बात तो अभी बतायी ही नहीं !' पुस्तक लौट आयी है, यह मित्रोंने देख लिया। प्रकाशकके पत्रपर टीका-टिप्पणी हो चुकी। सबने भोजन कर लिया। अब तो घरोंको लौट चलनेका समय हो गया और यह उत्सव-आयोजन किसलिए हुआ, सो किसीकी भी समझमें कुछ नहीं आया।

'मैंने तो कोई बात छिपायी नहीं है।' मुनीन्द्रके पास कुछ रहस्य है नहीं तो बतावे क्या ?

'तुमने यह आनन्दोल्लास क्यों प्रकट किया, यह कहाँ बताया तुमने।' मित्रोंको थोड़ी झुंझलाहट हुई। प्रतीक्षा भी एक सीमातक ही मधुर होती है।

'ओह।' खूब खुलकर हँसा मुनीन्द्र। 'मेरे श्यामसुन्दर-की इच्छा पूर्ण हुई, इससे बड़ी प्रसन्नताकी बात मेरे लिए और क्या है ? इच्छा तो मेरी पूरी होती या फिर विश्वात्माकी पूरी होती। जहाँ मेरी इच्छा पूरी होती है, वहाँ मेरा स्वार्थ है या विश्वात्माकी इच्छा, सो तो मुझे कुछ पता लगता नहीं ; किंतु जहाँ मेरी इच्छा नहीं पूरी होती, वहाँ तो यह निश्चय हो गया कि मेरे कन्हाईकी इच्छा पूरी हुई है।'

मित्रोंकी मनोदशाका अनुमान आप भी कर सकते हैं, किंतु क्या मुनीन्द्र ठीक नहीं कहता ? क्या हमारी इच्छा-की विफलता नहीं बताती कि प्रभुकी इच्छा पूर्ण हुई है ? प्रभुके अनुग्रहका यह साक्षात्कार हमारे हृदयको प्रफुल्लित नहीं करता—यही तो अज्ञान है।

आचार और विचार

'जो जलमें दीखता है, जो घृतमें दीखता है, जो दर्पण-में दीखता है, वही आत्मा है।' सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजीने अपने पास तत्त्वज्ञानकी इच्छासे आये इन्द्र और विरोचन-को यह उपदेश किया था।

'शरीरका ही प्रतिविम्ब जलमें दीखता है, शरीर ही घृतमें दीखता है और शरीर ही दर्पणमें भी दीखता है, अतः शरीर ही आत्मा है।' दोनों सन्तुष्ट होकर लौट पड़े।

श्रुति कहती है कि 'आत्मा एकरस और नित्य है। शरीरपर आभूषण हों तो जलमें आभूषण दीखेंगे, न हों तो नहीं दीखेंगे। शरीर आहत हो तो घृतमें भी आहत ही दीखेगा वह। यदि मुख विकृत बना लें तो दर्पणमें भी मुखाकृति विकृत दीखेगी। यह बदलनेवाला, आहत होने-वाला, विकृत होनेवाला शरीर आत्मा कैसे हो सकता है?' इन्द्रके मनमें सन्देह हो गया। वे ब्रह्माजीके पास लौट आये।

'इन्द्र मूर्ख तो है ही, अश्रद्धालु भी है।' विरोचनने एक बार मुख बनाया और वे सीधे रसातल चले आये

अपने असुर, दानव, दैत्यादिकोंको शरीरात्मवादके तत्त्व-ज्ञानका उपदेश करने।

'मैं शरीर नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ, मन नहीं हूँ। शरीर, इन्द्रिय एवं मनके धर्म मुझे स्पर्श नहीं करते। ये रोग-शोक तो शरीर एवं मनके धर्म हैं।' वे महापुरुष बहुत रुग्ण थे। उनके शरीरमें बहुत पीड़ा थी। उन दिनों एक सन्तरे या मौसम्बीका रस भी उन्हें कठिनतासे पचता था। शरीरमें केवल हड्डियोंका ढाँचा रह गया था। आसनसे उठकर खड़े होनेके लिए उन्हें सहारेकी आवश्यकता होती थी। इतने कष्टमें भी उनका नित्य प्रफुल्ल मुख वैसा ही खिला हुआ था। उनकी प्रसन्नता मलिन नहीं हुई थी। उनके लिए शरीरका रोग ऐसा था जैसे पास पड़ी लकड़ीमें दीमक लग गयी हो।

'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ। शरीर, इन्द्रिय, मन सब मिथ्या हैं। इनके व्यवहार मेरी दृष्टिमें नहीं हैं। जो दीखता है, वह तो देखनेवालेको दीखता है। भेदबुद्धिसे जो मुझमें व्यवहार देखते हैं, उनकी कल्पना मुझमें नहीं आ सकती।' वे भी महात्मा हैं। अच्छा स्थूल शरीर है। सेवकोंकी एक भीड़ घेरे रहती है उन्हें। पूजा करनेवाले उनकी आरती-पूजा करते रहते हैं। सुकोमल रेशमी वस्त्र पहिनाते हैं। उत्तम-से-उत्तम नैवेद्य भक्तजन भोग लगाते हैं। सेवकोंसे कोई थोड़ी त्रुटि हो जाय तो उन्हें कसकर फटकार मिलती है। दूसरी भी बहुत-सी बातें हैं; किंतु उनके वर्णनसे लाभ क्या?

उमेशने इन्द्र और विरोचनकी कथा पढ़ी है। उसने दर्शनशास्त्र लेकर एम्० ए० किया है और उसके पश्चात् भी वह स्वतन्त्र अध्ययनमें लगा रहा है। उसमें विरोचन-की भांति श्रद्धा नहीं है। वह आचार तथा विचारके इस असामञ्जस्यको समझ नहीं पाता है।

उमेश एक महात्माको और जानता है। उनका शरीर भी स्थूल है। उनके भी सेवक हैं। उनकी भी यदा-कदा पूजा होती है। उनके श्रद्धालु भी उन्हें उत्तम वस्त्र एवं नैवेद्य अर्पित करते हैं। वे भी सुसज्जित भवनमें आधुनिक परिच्छदोंका उपयोग करते हैं और वे हैं भी वेदान्तमें निष्ठा रखनेवाले। लेकिन उनमें पदार्थोंसे, व्यक्तियोंसे जो निरपेक्षता है, जो असङ्गता है उनके जीवनमें, वह उमेश समझ सकता है। वहाँ उसे कोई उलझन नहीं होती। उसे उलझन तो हुई है तब, जब वह सर्वथा साधारण आचार एवं संसक्त मनके साथ निरपेक्षताके लम्बे-चौड़े सिद्धान्तकी बात सुनता है।

'शरीर ही आत्मा है' यह विरोचनकी बात थी। उस पुरानी बातको दुहरानेका साहस तो चार्वाकको भी नहीं हुआ। देहको सर्वस्व मानना, जड़का विकार मानना पड़ा चेतनाको उन्हें। उमेश तो दार्शनिक है। उसने अध्ययनके साथ मनन किया है। मरनेके बाद जो शरीर पड़ा रह जाता है, उसे भला वह आत्मा कैसे मान ले। इन्द्रियाँ शरीरसे कितनी भिन्न हैं और कितनी अभिन्न हैं, यह दो दिनके उपवासमें पता लग जाता है। मन जो कि अन्नके

ही सूक्ष्मांशसे बना है, शरीर ही तो है एक प्रकारका। अन्न और अन्नका सत—स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरका भेद ऐसा न सही ; पर कुछ-कुछ ऐसा तो है ही। आत्मा शरीर नहीं है, मन नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, यह बात उमेश क्या समझता नहीं है।

'आत्मा तो कहीं भी शरीर, मन या इन्द्रिय नहीं है।' उमेशकी उलझन बढ़ती जाती है। 'आत्मज्ञानसे मुक्तिका अर्थ क्या है ? यदि मन विषयोंमें आसक्त है, इन्द्रियाँ भोग-लोलुप हैं, शरीरके सुख-दुःख, मान-अपमान-का ही चिन्तन, उद्विग्न बनाये रहता है तो ?'

'रस्सीमें सर्प जान पड़े तो क्या और न जान पड़े तो क्या ? वह सर्प किसीको काट तो सकता नहीं। मृग-तृष्णाके जलको जल मान भी लिया तो क्या उससे कपड़े भीग जायँगे ?' उमेश ऐसे तर्क बहुत सुन चुका है। पता नहीं क्यों ये तर्क उसके गलेसे नीचे नहीं उतरते।

'रस्सीमें सर्प नहीं है, यह जाननेवाला क्या भयसे काँपेगा ? मृगतृष्णामें जल नहीं है, यह जान लेनेपर प्याससे नितान्त व्याकुल होनेपर भी क्या वह उधर जलके लिए दो पद भी चलना चाहेगा ?' आप उमेशके तर्कोंको कैसे अस्वीकार कर सकते हैं।

'शास्त्रोंमें जो विधि-निषेध, पाप-पुण्य, जन्म-मृत्युका वर्णन है।' उमेशका हृदय कहता है कि शास्त्रको अस्वीकार कर देनेपर तो ब्रह्मज्ञान भी अस्वीकृत हो जायगा। शास्त्र ही तो अद्वैत तत्त्वका भी प्रतिपादन करते हैं।

'घड़ेमें धूल भरी है या चन्दन, इससे घटाकाशका क्या बिगड़ता है ?' उमेशको यह वेदान्त शान्तिके बदले उत्तेजना देता है। 'घटाकाश तो महाकाश ही है। उसका तो कहीं भी कुछ नहीं बिगड़ता।' इसका अर्थ उसे अनास्था प्रतीत होता है। उसे लगता है कि यह तर्क चार्वाकके देहात्मवादका दूसरा संस्करण है और बहुत भयानक संस्करण है ; क्योंकि इसमें समस्त उच्छृङ्ख-लताओं एवं अनाचारका समर्थन है।

'**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' उमेश कैसे सुलझावे इस पहेलीको ?

× × ×

'तुम्हारे दर्शनके प्रोफेसर मुक्त पुरुष हैं ?' महात्मा-जीने उमेशकी शङ्का सुनी और खुलकर हँस पड़े। बात-बातमें खिलखिला पड़ना उनका सहज स्वभाव है।

'मैं यह तो जानता हूँ कि बौद्धिक ज्ञानसे कोई मुक्त नहीं होता। यदि बौद्धिक ज्ञानसे कोई मुक्त हो सकता तो प्रोफेसर तो क्या, विश्वके सारे दर्शनशास्त्रके छात्र मुक्त हो गये होते।' उमेश आज हँस नहीं पा रहा है। वह बहुत गम्भीर है।

'तब कोई कैसे मुक्त होता है ?'

'अपरोक्ष साक्षात्कारसे।'

'अपरोक्षका क्या तात्पर्य ?'

'अपरोक्ष ·········' अब यहाँ उमेशकी गाड़ी अटक गयी। मन एवं इन्द्रियोंकी अपेक्षासे ही परोक्ष-अपरोक्षकी बात होती है। जहाँ मन-इन्द्रियोंकी गति नहीं, वहाँ अपरोक्ष कौन करेगा ?

'यह जो सब दीख रहा है, यह क्या है ?'

'है तो यह भी सब ब्रह्म ही ; किंतु ···' उमेश फिर रुक गया।

'तुम आत्मा, ब्रह्म, अपरोक्ष, परोक्ष, बद्ध, मुक्त आदि शास्त्रीय शब्दोंको छोड़ दो।' महात्माजीने समझाया—'लोग समझते कुछ नहीं, अपने मनमें और बाहर दूसरोंसे भी शब्दके स्थानपर पर्यायवाची शब्द दे देना ही ज्ञान मान लेते हैं। शब्दोंके जालसे निकलकर अर्थकी बात सोचो।'

'शब्दोंको छोड़कर कोई कैसे सोचेगा ?' उमेशने पूछा।

'अपने शब्दोंमें, अपने ढङ्गसे सोचो। आत्मामें अनात्माकी भ्रान्ति अज्ञान है और इसी अज्ञानसे बन्धन है, यह तुमने बहुत सुना-सोचा है। तुम अपने ढङ्गसे सोचो कि बन्धन क्या है ? तुम कहाँ कैसे बँधे हो।' महात्माजीकी वाणी अब गम्भीर हो चुकी थी।

'बन्धन तो आसक्तिका ही है। आसक्तिके कारण ही शरीर या पदार्थोंसे अन्तःकरण बँधा है।' उमेश यह बात बहुत पहले सोच चुका है।

'केवल राग ही बन्धन नहीं है, द्वेष भी बन्धन है।' महात्माजीने संशोधन किया—'तुम या तो रागसे किसी-का चिन्तन करते हो या द्वेषसे। अच्छा, अब सोचो कि मुक्ति क्या है ?'

'बन्धन न रहे तो मुक्ति ही है।' भला इसमें क्या सोचनेकी बात है—'संसारमें राग-द्वेष न रहे, चित्त इन दोषोंसे मुक्त हो जाय, बस यही मुक्ति है। लेकिन क्या यह भी सम्भव है कि किसीमें राग-द्वेष भी हो अर्थात् उसका चित्त बँधा भी हो और वह मुक्त भी हो ?' उमेश अपने वास्तविक प्रश्नपर आ गया।

'उकताओ मत !' महात्मा फिर हँस पड़े। 'एक क्रमसे चलो ! शरीर तथा संसारके पदार्थोंमें यह राग क्यों है ?' द्वेषकी बात जान-बूझकर छोड़ दी गयी ; क्योंकि वह तो सदा रागकी अपेक्षासे ही होता है।

'इसलिए कि हम शरीरको अपना मानते हैं और पदार्थोंकी प्राप्तिमें सुख अनुभव करते हैं।' सच्ची बात यही है कि उमेश कुछ उकता रहा है। ये बातें तो वह अनेक बार घोंट चुका है।

'हमें सुख चाहिये—दुःखरहित स्थिर सुख। हमारे समस्त प्रयत्नोंका यही मूल है। सभी धर्म एवं अध्यात्म-मार्ग इसी उद्देश्यसे प्रवृत्त हुए हैं। अब इस मूल उद्देश्यको भूलना मत ; क्योंकि जो इसे भूल जाते हैं, वही तर्कके जाल तथा मनके भुलावेमें भूलते हैं।' बड़ी शान्तिसे

महात्माजी समझा रहे थे। 'अब यह देखो कि ये सुख-दुःख किसे होते हैं ? किसे सुख चाहिए ? कौन आसक्तिके बन्धनमें बँधा है ? ब्रह्म या ग्रात्मा तो बँधा है नहीं और न उसे सुखकी अपेक्षा है। वह तो आनन्दस्वरूप है। उसके लिए तो साधन-शास्त्रकी प्रवृत्ति है ही नहीं।'

'सुख-दुःख चित्तको होते हैं। चित्त ही राग-द्वेषका मूल है।' उमेशको प्रकाशकी एक हल्की आभा प्रतीत होने लगी है।

'चित्तका ही पुनर्जन्म है और उसीकी मुक्ति भी होगी ?' महात्माजीने विचित्र भावसे देखा उसकी ओर। 'हिचको मत ! सत्यको स्वीकार करनेमें भयका कोई कारण नहीं होना चाहिए। मुक्ति ग्राकाशकी नहीं होती, घटकी होती है। घड़ेका फूट जाना ही मुक्ति है उसकी। दीपकके बुझ जानेका नाम ही निर्वाण है।'

'चित्तका लय—समाधि होनी चाहिए तब।' उमेश बहुत अधिक गम्भीर हो उठा।

'यह तो साधनभेदकी बात है।' महात्माजीने आश्वासन दिया—'चित्तका लय या समाधि भी हो सकती है और चित्तसे ऊपर भी उठ जाया जा सकता है।'

'चित्तसे ऊपर उठ जाया जा सकता है ?' उमेश इसे ही तो ठीक समझना चाहता है।

'मैं चित्त नहीं हूँ, यह बात दूसरोंसे कह भर देना तो कुछ ग्रर्थ नहीं रखता।' महात्माजी फिर हँस पड़े—'इसकी

धारणा होनी चाहिए। जैसे लाठी मुझसे भिन्न है, वैसे ही मुझसे भिन्न हैं शरीर और चित्त तथा दोनों लाठीके समान जड़ हैं।'

'अर्थात् आरम्भमें 'मैं चित्त नहीं हूँ' यह धारणा भी आराधना या भावना ही है ?' उमेशके नेत्र स्थिर हो गये।

'काँटेसे ही काँटा निकलता है।' महात्माजीके स्वरमें स्नेह उमड़ पड़ा—'यह समस्त संसार भावमय है। अनन्तकालसे जन्म-मृत्युका जो चक्र चल रहा है, वह भी भावरूप ही है। भाव ही इसे निवृत्त कर सकता है।'

'तब ज्ञानसे ही मुक्तिका क्या अर्थ ?' उमेशका संकेत उपासनाकी ओर है, यह समझना कुछ कठिन नहीं था।

'तुम यह दुराग्रह क्यों करते हो कि केवल एक मार्गने ही मुक्ति या जीवके परम कल्याणका ठेका ले लिया है।' महात्माजी इतने उदार होंगे, यह उमेशने कभी सोचा नहीं था। 'सभी मार्ग हैं—केवल मार्ग। कोई अपनेको ही लक्ष्य कहे तो झूठा है वह और वह भी झूठा है जो मार्गों-को भ्रान्त कहे। जितने सिद्धान्त हैं, सब एक ही सत्यका प्रतिपादन करना चाहते हैं।'

'इतना भेद, इतना विवाद और.......।'

'इसलिए कि लोग तर्कसे ही सब कुछ समझ लेना चाहते हैं।' महात्माजीने बीचमें ही उमेशको रोका—'कौन क्या मानता है, इसका कोई विवाद नहीं, यदि वह इस स्थूल नश्वरको ही सब कुछ नहीं मानने लगा

है। कौन क्या करता है—अपनी आस्थाको शास्त्री
साधनपर रखकर वह कितना चलता है, बस, यही मुख्
बात है। सभी मानते हैं कि चित्तशुद्धिके बिना तत्त्वक
साक्षात्कार नहीं होता। ऐसी दशामें केवल तर्कसे उसे
समझ लेनेका दुराग्रह एवं विवाद क्या अर्थ रखता है ?'

उमेश जिज्ञासु है। उसके भीतर अभीप्सा जाग पड़ी
है। उसका समाधान तर्कसे नहीं हो सकता तो जैसे होगा,
वैसे ही करेगा वह। महात्माजीके भिक्षाटनका समय हो
गया है। उसे चलना चाहिये इस समय यहाँसे।

× × ×

'जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिरिह ध्रुवम्।'

उमेशको चित्तशुद्धि करनी है। सगुण-साकारमें
उसकी आस्था नहीं है। निर्गुण निराकारका ध्यान तो
होता नहीं, निरालम्ब चित्तको रखना पड़ता है और ऐसा
हो नहीं पाता। अष्टाङ्गयोगका तो अधिकारी ही वह है,
जो पूर्ण ब्रह्मचारी हो। प्राणायामका दबाव स्नायुओंको
विकृत करके साधकको रोगी बना देगा यदि उसके स्नायु
वीर्यस्खलनसे दुर्बल हो चुके हैं। लययोगके अनेक मार्ग
हैं—शब्दमार्ग, स्पर्शयोग, रसानुभव या अमृतपान, गन्धा-
नुभूति। किंतु सबमें मनकी एकाग्रता आवश्यक है।
उमेशको न ज्योति देखनी है, न गन्ध या रसमें उसे आक-
र्षण है। उसे चमत्कार नहीं, एकाग्रता चाहिये। वह
कहता है—'सूर्य एवं चन्द्र-जैसी ज्योति तो बाहर ही हैं।
नेत्र बन्द करके दीपक-जैसा प्रकाश दिखा तो क्या और न

दिखा तो क्या । स्पर्शके नामपर वह गुलाबका पुष्प दिखा देता है और गन्धके नामपर कोई इत्र । जिसे तख्तेपर शयन करना रुचता है, उसे स्पर्शका क्या आकर्षण । उसे जो चाहिये, वह क्या चमत्कार उसे दे सकते हैं ।

'राम, राम, राम' वह गोस्वामी तुलसीदासजीके नवजलधर सुन्दर श्रीरामका ध्यान नहीं करता । उसे तो महात्मा कबीरका 'राम' पसन्द है । इस 'राम' नाममें उसे शक्ति जान पड़ती है । इसमें उसकी रुचि है । उसने रट लगा दी है—'राम, राम, राम ।'

'यह क्या हो गया ? पहले तो जपमें मन अच्छी तरह लगता था ; किंतु अब क्या हो गया है ? अब तो मुखसे जप होता है और मन अपनी उधेड़ बुनमें रहता है ।' उमेश·········कुछ खिन्न हो गया है । उसे लगता है कि किसी दूसरे नाम या मन्त्रका जप करना चाहिए । 'प्रणव-का बहुत अधिक माहात्म्य है । सन्तोंने 'सोऽहम्'के अजपा जपको अत्यधिक प्रभावशाली बतलाया है ।' मनमें अनेक विकल्प उठते हैं ।

'जब गन्दे भवनकी सफाईकी जाती है, एक बार धूलि उड़ती ही है । वायुमण्डल पहलेसे अधिक धुँधला हो जाता है । क्या इस भयसे तुम घरको स्वच्छ करना बन्द कर दोगे ?' महात्माजीने उसे आश्वासन दिया । 'सभी भगवन्नामोंमें समान शक्ति है । जो बार-बार मार्ग बदलता रहेगा, वह यात्रामें प्रगति नहीं कर सकता । प्रगतिके लिए निष्ठाकी दृढ़ता अत्यन्त आवश्यक है ।'

'यह सब कबतक करना होगा ?' जब मन ऊबता है, कुतर्क एवं बहाने सूझने लगते हैं। उमेश सोचता है—'ये महात्माजी भी तो जप करते-से लगते हैं। तब क्या उसे सदा ही इसी प्रकार जपकी खटपट करनी होगी ?'

'झाड़ू तबतक देनी पड़ती है, जबतक गृह स्वच्छ न हो जाय।' महात्माजी हँसे—'अबतक ऐसा कोई घर नहीं बना, जिसके विषयमें यह कहा जा सके कि उसे एक बार स्वच्छ कर देनेपर वह फिर गन्दा न होगा। स्वच्छता तो सदा करनेकी आवश्यकता रहती है। स्वच्छताका प्रयास बन्द करनेसे गन्दगी एकत्र होती है। जबतक प्रकृतिके क्षेत्रमें हैं—स्वच्छताका प्रयत्न चलता ही रहना चाहिए।'

'अर्थात् जीवनभर साधन करना पड़ेगा मुझे ?' उमेशने निराशासे पूछा।

'तुम्हें जीवनभर भोजन करते रहने और जल पीने, श्वास लेने आदिकी आवश्यकता रहती है, इसमें क्या आपत्ति है ?' स्वरमें अत्यधिक स्नेह और आश्वासन आया—'तुम तबतक इसे करणीय समझकर करो, जबतक इसमें रस न आने लगे। जब मन लगने लगे, तब चाहो तो छोड़ सकते हो।'

'राम, राम, राम' उमेशने निश्चय कर लिया है और अपने निश्चयमें वह कभी असफल नहीं हुआ। वह जुट गया है। मन लगे या न लगे, उसे जप करना है—जब

करते ही रहना है। चलते-फिरते, उठते-बैठते, काम करते, आराम करते उसकी जीभको विश्राम नहीं।

मन क्या करे? मनका सर्वथा संयोग न हो तो शरीरका एक रोमतक हिल नहीं सकता। पूरा न सही, पर जब हम एक क्रिया करनेपर उतारू ही हो जाते हैं, मनको अपने एकांशका योग वहाँ करना ही पड़ता है और फिर वही क्रिया मटमैले मनको रगड़ना प्रारम्भ कर देती है। उमेशकी जिह्वा अखण्डरूपसे रगड़नेमें लगी है—'राम, राम, राम।'

× × ×

'आज पाँच महीनेसे ऊपर हो गये जप करते!' उमेशके नेत्रोंसे अश्रु झर रहे हैं।

'जब कुछ नहीं होता तो छोड़ दो।' सन्तके नेत्रोंमें अद्भुत कौतुक आया—'तुम्हारे लिए मेरी आज्ञा है कि अब इसी क्षणसे जप एकदम बन्द कर दो।'

'मुझसे रहा नहीं जाता।' केवल आध घण्टे पीछे उमेश लौट आया था।

'नहीं! अब तुम जप नहीं करोगे!' मुख और वाणीको गम्भीर बनाकर सन्तने आज्ञा दी।

'देव! मुझे मर जानेकी आज्ञा दें।' और एक घण्टे व्यतीत करके उमेश लौटा। वह फूट-फूटकर हिचकियाँ लेते हुए रो रहा था। मैं जप किये बिना रह नहीं सकता।

मेरा हृदय जैसे बाहर निकला पड़ता है। इससे तो मृत्यु सरल है मेरे लिए।'

'बच्चे ! तू तो कहता था कि जपसे कुछ हुआ ही नहीं।' सन्तने स्नेहपूर्वक मस्तकपर हाथ फेरा। 'श्वासकी कितनी आवश्यकता है और वह हमारे शरीरमें कितना काम करती है, यह तबतक हम जान नहीं पाते, जबतक श्वासकी गतिमें कोई बाधा न पड़े। भगवन्नाम जीवनका एक अविच्छिन्न अङ्ग बन गया, यही तो साधनकी सफलता है।'

'लेकिन चित्तकी शुद्धि ?' उमेशने मुख उठाया।

'अच्छा !' महात्माजी देरतक बच्चोंकी भाँति हँसते रहे। 'तू अब भी चित्तकी चिन्ता करता है ? कल आना मेरे पास। आज जाकर अपने प्रश्नपर स्वयं मनन कर।'

'चित्तकी शुद्धि ? चित्त भी तो शरीर ही है, क्या हुआ जो वह सूक्ष्म शरीर है।' उमेश घर पहुँचकर विचारमग्न हो गया है। 'शरीरका शौच—भला शरीरका क्या शुचि होगा ? शौचका तात्पर्य तो है शरीरसे उपरति। 'शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा' जैसे शरीरके रोगोंसे निरपेक्ष होना है, वैसे ही चित्तके रोगोंसे क्या निरपेक्ष नहीं होना है ?' उमेशके मनमें श्रीमद्भागवतमें भगवान् हंसका उपदेश स्फुरित हुआ—

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः॥

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया ।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ।।
(श्रीमद्भा० ११।१३।२५-२६)

अनेक बार उमेशने इन श्लोकोंको पढ़ा है । श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धसे उसे विशेष अनुराग है । अनेक टीकाएँ पढ़ी हैं उसने । इन श्लोकोंकी व्याख्यापर उसका पहले भी पर्याप्त ध्यान गया है ; किंतु आज पता नहीं कहाँसे अन्तस्तलमें प्रकाश उमड़ पड़ा है । आज जो भाव-राशि स्वयं जाग्रत् हो गयी है, शब्दोंमें वह कभी नहीं आ सकेगी । नेत्रोंसे आनन्दकी धारा उमड़ने लगी है । शरीर-का रोम-रोम खड़ा हो गया है । उमेश किसी और ही लोकमें पहुँच गया है ।

जैसे मरे हुए मकड़ेका बड़ा-सा शरीर, देखनेमें कुछ डरावना, कुछ बीभत्स ; किंतु अन्तःसारशून्य, वायुकी नन्ही लहरियोंपर इधर-से-उधर रूईसे भी हल्का होकर उड़ता हो—समस्त दृश्य जगत् जैसे वैसा ही हल्का, वैसा ही थोथा हो गया है । जैसे दूधका फेन देखनेमें बहुत-सा ; किंतु धूपमें डाल दें तो तनिक देरमें एक धब्बा बनकर रह जाता है—यह सम्पूर्ण विराट् वैसा ही फूला-फूला फेन और वैसे ही एक धब्बा-सा बन गया हो जैसे । धुएँकी उड़ती कुण्डलियोंमें जैसे मनुष्यके सिर, सर्पकी कुण्डली आदि आकृतियाँ बनती और फिर अनन्तमें लीन हो जाती हैं—पूरा विश्व जैसे, वैसे ही धुएँ-जैसे तत्त्वकी आकृति-मात्र हो और लीन हो गया हो वह अनन्त शून्यमें ।

उमेशकी अनुभूति शब्दोंमें व्यक्त नहीं हो पाती। अनुभूति कोई भी हो, किसीकी भी हो, वह अनुभूति ही रहती है। शब्द बनना अनुभूतिको नहीं आता है।

'मैं मन नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ और शरीर भी नहीं हूँ। इनके धर्म मेरा स्पर्शतक नहीं कर सकते!' जब दूसरे दिन उमेश महात्माजीके चरणोंमें प्रणाम कर चुका, तब सन्तने हँसते हुए अपने पुराने वाक्य दुहरा दिये।

'मैं केवल दर्शन करने आया हूँ।' उमेशके नेत्र भर आये। कण्ठ गद्गद हो गया। अब उसके पास कोई शङ्का है कहाँ, जिसका समाधान चाहेगा वह।

'शराबी शराबके नशेमें अपनेको सम्राट् घोषित करता है। विषयी पुरुष तर्कके उन्मादमें अपनेको शरीर और मनसे परे बतलाता है। शरीरकी आसक्ति, इन्द्रियों-की विषयलिप्सा रखते हुए इनसे ऊपर होनेकी बात करना दम्भ है या फिर शराबीकी बहक है।' सन्तने आज समाधान किया—'लेकिन सम्राट्की सत्ता तो है ही। शरीर, इन्द्रिय एवं मनसे परे अवस्थिति है और वह प्राप्त होती है।'

'अर्थात् आचार प्रथम आवश्यक है और उस स्थिति-के पश्चात् स्वाभाविक।' उमेशने पूछा।

'अब पूछनेकी क्या बात रही है। तुम अब नाम-जप क्यों करते हो, यह भी क्या पूछनेकी बात रह गयी है?' सन्त हँस पड़े—'ये हरि हैं ही धर्मके स्वामी। जो हरिमें लगता है, वह धर्मसे दूर रह नहीं सकता।'

किसी समय शौनकजीने भी पूछा था—'ये आत्माराम आप्तकाम महापुरुष क्यों श्रीकृष्णके चक्करमें पड़ते हैं? उन्हें भजनसे क्या लेना-देना रहता है?'

सूतजीने धीरेसे कहा था—

'इत्थम्भूतगुणो हरिः'

'ये श्यामसुन्दर हैं ही ऐसे। बचपनसे नवनीत और दही चुरानेका स्वभाव हो गया है इनका। जहाँ कोई चित्त स्वच्छ हुआ—बस, उज्ज्वलतापर इनके बड़े-बड़े नेत्र सीधे ही पड़ते हैं और—और फिर तो श्रुतियाँ भी हाथ जोड़कर कहती हैं—

'तस्कराणां पतये नमः'

श्रीकृष्ण - सन्देश

[आध्यात्मिक मासिक-पत्र]

श्रीकृष्ण-सन्देशका वर्ष जनवरीसे प्रारम्भ होता है। श्रीकृष्ण-सन्देश प्रतिमास ८० पृष्ठ पाठ्य सामग्री देता है।

आप श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र' की सशक्त लेखन-शैलीसे इस पुस्तकके द्वारा परिचित हो रहे हैं। श्रीकृष्ण-सन्देशमें श्री 'चक्र' द्वारा लिखित 'श्रीकृष्णचरित' प्रति अङ्क ३२ पृष्ठ और उन्हीं द्वारा लिखित 'श्रीरामचरित' प्रति अङ्क ३२ पृष्ठ जा रहा है।

वार्षिक शुल्क— १० रुपया।

आजीवन शुल्क— १५१ रुपया।

सम्भव हो तो आजीवन ग्राहक बनें।

व्यवस्थापक—
श्रीकृष्ण-सन्देश
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा-२८१००१

श्रीसुदर्शन सिंहजी 'चक्र' की अन्य पुस्तकें

गवान वासुदेव—(श्रीकृष्णका मथुरा चरित)—
डिमाई आकार, पृष्ठ ४०२, सजिल्द, मूल्य १०)५०

ीद्वारिकाधीश—(श्रीकृष्णका द्वारिका-चरित)—
डिमाई आकार, पृष्ठ ४००, सजिल्द, मूल्य १०)५०

शव-चरित—डिमाई आ०, पृष्ठ ४२८, सजिल्द, मूल्य ११)२५

त्रुघ्नकुमारकी आत्मकथा—
डिमाई आकार, पृष्ठ २१२, सजिल्द, मूल्य ७)५०

ुमारी संस्कृति—डिमाई आ०, पृ० २६०, सजिल्द, मूल्य १०)२५

कर्म-रहस्य—डिमाई आकार, पृष्ठ १८४,

ाञ्जनेयकी आत्मकथा—(श्रीहनुमान-चरित)—
डिमाई आकार, पृष्ठ ३१२, सजिल्द, म

यामका स्वभाव— पाकेट आकार, पृष्ठ ९६,

ुमारे धर्मग्रन्थ— पाकेट आकार, पृष्ठ ९७,

हिन्दुओंके तीर्थ-स्थान—पाकेट आ०, पृष्ठ २७४,

व-स्मरण— पाकेट आकार, पृष्ठ ८५, मूल्य १)२५

े अवतार एवं देवी-देवता—
पाकेट आकार, पृष्ठ १०८, मूल्य १)५०

क कहानियाँ प्रत्येक भाग—
पाकेट आकार, पृष्ठ १६०, मूल्य २)००

सम्भव —

महाविभूतियोंके प्रेरक प्रसंग—
पाकेट आकार, पृष्ठ १८८, मूल्य २)५०

तिक कहानियाँ—भाग ६

प्राप्ति-स्थान—

न विभाग, श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवासंघ,
मथुरा-२८१००१ (उ० प्र०)